श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

प्रथम-पुष्प ।

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—प्रथम किरण

सम्पादक—
श्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,
न्याय-काव्य-तीर्थ

सम्पादक—
श्री पं० भँवरलाल जैन,
न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—

श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,

जयपुर ।

प्रथम संस्करण
६५०

वीर संवत्
२४७०

मूल्य (पूरे ग्रन्थ १० किरण का)
१२) रुपया

इस ग्रन्थ के
पूर्वार्द्ध की द्वितीय किरण
"समाचाराधिकार"
शीघ्र ही प्रकाशित
हो रही है।

पुस्तक प्राप्ति का स्थान—
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
मंत्री—श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

प्रकाशकीय वक्तव्य

गतवर्ष मुझे श्री १०८ आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज के वर्षायोग–समाप्ति के उपलक्ष्य में किये गये महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए कुचामन जाने का सुअवसर मिला। वहाँ मेरे मित्र अ०भा०दि० जैन संघ के महामन्त्री पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ भी आये हुए थे। जब हम दोनों महाराज के दर्शनार्थ नसियाजी में गये तो वहाँ जयपुर के श्री मुंशी फूलचंदजी सोनी बैठे हुए महाराज से कुछ शास्त्रीय चर्चाएं कर रहे थे। इस संयम-प्रकाश ग्रन्थ का कुछ भाग भी वहाँ रखा हुआ था। हमें देखकर इसके सम्पादन-प्रकाशन की बात चल पड़ी। मुझे जोर देकर कहा गया कि इसका सम्पादन-प्रकाशन मेरे तत्वावधान में हो। मैंने अनिच्छा प्रगट की। बहुत आनाकानी करता रहा। अवकाश न होने आदि की भी बहुत सी बाते कहीं। पर महाराज ने न सुनना चाहा। पं० राजेन्द्रकुमारजी ने भी आग्रह एव अनुरोध के साथ महाराज की बात का समर्थन किया और मुझे विवश होकर महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी। तदनुसार जब हम लोहड़साजन–आन्दोलन के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक विजय पाकर कुचामन से लौट रहे थे, महाराज के संघस्थ श्रीमान् लक्ष्मीचन्दजी वर्णी ने यह सारा का सारा ग्रंथ लाकर मेरे सुपुर्द किया और मैं इसे जयपुर ले आया।

तब से कई महीनों तक यह ग्रन्थ यों ही पडा रहा। एक बार पूरा देख लेने का भी अवकाश नहीं मिला। पर इस बीचमें मेरे प्रिय शिष्य श्री० पं० श्रीप्रकाश शास्त्री, न्याय-काव्य-तीर्थ एवं श्री० पं० भँवरलाल न्यायतीर्थ इसका यदा कदा संशोधन अवश्य करते रहे। किन्तु घरेलू झमटों के कारण इन्हें भी यथेष्ट समय नहीं मिला। इसके बाद गत आषाढ़ मास में आचार्य महाराज भादवा (मेरे जन्म-स्थान), किशनगढ़ आदि स्थानों मे विहार करते हुए जयपुर की भव्य-जनता के शुभोदय से जब यहाँ पधारे और यहाँ ही चौमासा करने का भी निश्चय हो गया तब तो उनकी अविरत मिलने वाली सत्प्रेरणा से अन्यान्य आवश्यक कार्यों को छोड़ कर इस ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य मे हमें लगना ही पड़ा। हमारी इच्छा यह थी कि अवकाश के समय में पर्याप्त संशोधन एव परिष्करण के बाद इस ग्रन्थ का सुन्दर रूप में प्रकाशन किया जावे, जिससे यह मुमुक्षुओं के लिए और भी विशेष उपयोगी बन सके। पर समयाभाव से यह इच्छा पूरी न हो सकी। जल्दी ही ग्रन्थ प्रेस में देना पड़ा और मुद्रण मे भी जल्दी की गई। इसीलिए प्रूफ संशोधन आदि में भी कहीं–कहीं त्रुटि रह गई और शीर्षक आदि में छोटे–बड़े टाइप की जहाँ जैसी व्यवस्था अपेक्षित थी वह भी पूर्णतया नहीं हो सकी। इस महा युद्ध के समय मे कागज की कमी व मँहगाई और प्रेसों के कार्याधिक्य ने तो हमें और भी तंग कर लिया। फिर भी यह सन्तोष की बात है कि यह ग्रन्थ इस रूप मे पाठकों के हाथ मे पहुँच रहा है। कागज भी सांगानेरी हाथ का बना है, जो मिल के कागजों की अपेक्षा अधिक टिकाऊ रहेगा।

इस ग्रन्थ मे संयम का वर्णन है, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसमें संयम के भेद-प्रभेदों को बहुत विस्तार से समझाया गया है। इसके प्रारम्भिक मंगलाचरण से यह भी स्पष्ट है कि यह कोई नवीन रचना नहीं है, संयम–प्ररूपक विभिन्न ग्रन्थों के विषय का संग्रह मात्र है। संयम-विषयक प्रायः सभी जैन ग्रन्थों के प्रमाण इसमे मौजूद हैं। इतना ही नहीं, जैनेतर साहित्य के प्रमाणों को भी ग्रन्थ के प्रकृत विषय को समझाने

के लिए उद्धृत किया गया है। इससे यह ग्रन्थ सर्व साधारण के लिए विशेष उपयोगी बन गया है। विभिन्न विषयों को देखने के लिए यदि पाठक अनेक ग्रन्थों को टटोलें तो बहुत समय चाहिए। आज के युग का पाठक तो यह चाहता है कि वह थोड़े समय में बहुत अधिक जान जावे। ऐसे पाठकों के लिए इस प्रकारके संग्रह ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं।

संयम की उपयोगिता अल्पाधिक रूप में सभी धर्माचार्यों ने स्वीकार की है। घोर नास्तिक भी इसकी उपयोगिता को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। क्योंकि परलोक को छोड़ भी दें तो इस लोक में भी साधु, शांत एवं सफल जीवन व्यतीत करने के लिए इसकी नितान्त आवश्यकता है। संयमहीन जीवन पर्वत से गिरे हुए पाषाण-खण्ड की तरह कहाँ जाकर गिरेगा, इसका कोई अन्दाज नहीं लगा सकता। संयम ही बुद्धि, वैभव और पवित्र जीवन का कारण है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। जगत् में जो कुछ सुन्दर और शिव है वह सब संयम ही के कारण है। जैनधर्म निवृत्ति प्रधान होने के कारण संयम को सर्वाधिक महत्त्व देता है। प्रवृत्ति भी यदि संयमोन्मुखी न हो तो सर्वथा अग्राह्य है। गृहस्थधर्म प्रवृत्ति-प्रधान है और मुनिधर्म निवृत्ति-प्रधान। पर यदि इन दोनों मे ही संयम का अभाव हो तो न वह सच्चा गृहस्थ है और न सच्चा मुनि। इसलिए यह कहना सर्वथा उचित है कि सयम ही मनुष्य के पवित्र जीवन की कसौटी है। जैनशास्त्रों में इसका जैसा गंभीर, मनोवैज्ञानिक एवं सम्पूर्ण विवेचन मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है इसलिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करके भव्यों को अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

इस ग्रन्थ के दस अधिकार हैं। आदि के पाँच अधिकार (पूर्वार्द्ध) में सकल-संयम (मुनिधर्म) का और अन्त के पाँच अधिकार (उत्तरार्द्ध) मे देश-सयम (गृहस्थधर्म) का वर्णन है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला की ओर से हो रहा है। इसका कार्य आगे भी निर्बाध रीति से चलता रहे इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ के विक्रय की व्यवस्था की गई है। दानी महानुभावों से प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थमाला की अधिक से अधिक सहायता करके इसके कार्य को स्थायी बनावें और पुण्योपार्जन करें।

निवेदक—
चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
मंत्री—श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर।

भाद्रपद
वीर निर्वाण संवत् २४७०

श्री १०८ आचार्य श्रीसूर्यसागरजी महाराज का जीवन परिचय।

श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज का जन्म कार्तिक शुक्ला नवमी शुक्रवार विक्रम सम्वत् १९४० को ग्वालियर रियासत के शिवपुर जिलान्तर्गत पेमसर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री हीरालालजी व माता का नाम गैंदवाई था। आप पोरवाल दिगम्बर जैन जाति के यसलहा गोत्र में उत्पन्न हुए हैं। गृहस्थाश्रम में आपका नाम हजारीमलजी था। हीरालालजी के सहोदर भाई श्री बलदेवजी के कोई सन्तान नहीं थी अत. हजारीमलजी उनके दत्तक होगये। बलदेवजी की धर्मपत्नी का नाम भूलाबाई था। बलदेवजी झालरापाटन में अफीम की दलाली करते थे। हजारीमलजी बाल्यावस्था में ही झालरापाटन आ गये और वहाँ ही उन्हें सामान्य शिक्षा प्राप्त हुई। दुर्भाग्यवश सं० १९५२ में जबकि हजारीमलजी बारह वर्ष के ही थे श्री बलदेवजी की मृत्यु होगई। उनकी मृत्यु के बाद हजारीमलजी का पालन पोषण झालरापाटन के प्रसिद्ध सज्जन नाथूरामजी जोरजी रावका द्वारा हुआ। ये बलदेवजी के परम मित्र थे। परिस्थितिवश हजारीमलजी को विशेष शिक्षा प्राप्त न हो सकी और छोटी अवस्था में ही शिवपुर जिले के मेवाड़ा ग्राम मे ओंकारमलजी पोरवाल की सुपुत्री मोतांबाई के साथ विवाह भी होगया। इसके कुछ दिनों बाद हजारीमलजी इन्दौर चले गये और वहाँ आपने रावराजा सर सेठ आदि अनेक पद विभूषित श्री हुकुमचन्दजी साहब के यहाँ तथा बाद में स्वर्गीय सेठ कल्याणमलजी के यहाँ नौकरी की। किन्तु आपको नौकरी करना पसन्द नहीं आया। स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना ही आपने अच्छा समझा और एक कपड़े की दुकान इन्दौर ही में करली। साथ में कपड़े की दलाली भी करते रहे। इससे आपकी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक रही।

आपके कई सन्तानें हुईं। उनमें श्री शिवनारायणजी एव समीरमलजी दो पुत्र अब भी मौजूद हैं, जो इन्दौर में ही कपड़े का व्यवसाय करते हैं।

हजारीमलजी की बाल्यावस्था से ही धर्म की ओर बहुत रुचि थी। शास्त्र-स्वाध्याय, पूजन, प्रक्षाल, सामायिक आदि में आप बचपन से ही काफी समय लगाया करते थे। ज्यों २ अवस्था बढ़ती गई, धर्म की ओर आप अधिकाधिक झुकते गये। भाग्यवश आपको धर्मपत्नी भी ऐसी ही मिली जो धार्मिक चर्चाओं को अच्छी तरह समझती और गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय करती थी। इससे आपकी ज्ञान-वृद्धि में काफी सहायता मिली। पर दुर्भाग्यवश यह सहयोग बहुत काल तक न रहा। वि० संवत् १९७२ मे आपकी स्त्री का देहान्त होगया। पत्नी-वियोग के पश्चात् संसार, शरीर और भोगों से आप उदासीन रहने लगे और हृदय में वैराग्य-मय जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा बढ़ने लगी।

सं० १९८१ का वर्ष था। एक दिन रात्रि के समय श्री हजारीमलजी को यह स्वप्न हुआ कि जलाशय में एक तख्ते पर बैठा हुआ कोई आदमी उनसे कह रहा है कि "चले आओ, देर न करो।" पर उसके आग्रह करने पर भी उन्होंने जलाशय में प्रवेश नहीं किया। तब उस आदमी ने तख्ते को किनारे पर लगाया और उनको किसी तरह तख्ते पर चढ़ाकर थोड़ी दूर जल में ले जाकर एक स्थान पर रखे हुए पीछी कमण्डलु की ओर

संकेत करके कहा—इन्हें उठा लो। पर उन्होंने इन्कार कर दिया। उस व्यक्ति के दो तीन बार कहने पर भी जब उनने पीछी कमण्डलु नहीं उठाये और 'नहीं उठाऊँगा' यह कहते हुए ही विस्तरों पर कुछ हटे तो पलंग पर से गिर पड़े।

यह सब स्वप्न था, कोई सच्ची घटना नहीं। फिर भी इसने हजारीमलजी के जीवन में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया और उनका संसार छोड़ने का विचार और दृढ़ होगया। संयोगवश उस वर्ष (संवत् १६८१ में) श्री आचार्य शान्तिसागरजी (छाणी) का चातुर्मास्य योग इन्दौर में ही था। हजारीमलजी को संसार से विरक्ति हो ही गई थी। फलस्वरूप आसोज शुक्ला षष्ठी वि० सं० १६८१ को श्री आचार्य शान्तिसागरजी (छाणी) के पास आपने ऐलक दीक्षा ले ली। ऐलक होजाने के बाद इन्हीं हजारीमलजी का नाम श्री सूर्यसागरजी रखा गया। इसके ५१ दिन पश्चात् मंगसर कृष्णा एकादशी को हाटपीपल्या (मालवा) में उन्हीं आचार्य शान्तिसागरजी के पास सर्व परिग्रह को त्यागकर आपने निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण करली।

मुनि-जीवन की दीक्षा के बाद स्वात्मोत्थान का विचार तो आपके सामने रहा ही, पर स्वेतर प्राणियों को किस तरह धर्म पर लगाना चाहिये यह विचार भी आपके हृदय में सतत बना रहा और इसके अनुसार आपकी शुभ प्रवृत्तियाँ भी होती रहीं। आपके सदुपदेशों से अनेक स्थानों पर पाठशालाएँ, औषधालय आदि अनेक परोपकारी संस्थाएँ खुलीं। सैंकड़ों स्थानों में विनाशकारी संघर्ष मिटकर शान्ति स्थापित हुई। जो झगड़े न्यायालयों से न मिट सके थे, जो पचासों वर्षों से समाज की शक्ति को क्षीण कर रहे थे, जिनमें हजारों रुपये नष्ट हो चुके थे, जिनको लेकर बीसों बार मारपीट और सिर फुटबॉल तक हो चुकी थी, परस्पर पिता-पुत्र, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष, आदि में जिनके कारण खूब लड़ाइयाँ चल रही थीं, परस्पर कुटुम्बियों में जिनकी वजह से आना जाना और मुख से बोलना तक बन्द था— ऐसे एक नहीं सैकड़ों व्यक्तिगत, सामाजिक, पंचायत सम्बन्धी चौमूँ, भिंड, जयपुर, टोंक, मुँगावली, खुरई, चँदेरी, हाटपीपल्या, टीकमगढ़, नेणवाँ, उदयपुर, सेवारी, भीलवाड़ा, नरसिंहपुरा, डबोक, साकरोदा, मादवा आदि सेकड़ों स्थानों के झगड़े आपके उपदेशामृत से शान्त हुए। इससे जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। जिन-जिन नगरों व ग्रामों में आपका पदार्पण हुआ है, शान्ति की लहर दौड़ गई है। यही कारण है कि वर्त्तमान मुनि-समाज में आपका आदरणीय स्थान है और सभी—नवीन तथा प्राचीन विचार वालों—की आप में श्रद्धा है। जैन समाज में ही नहीं जैनेतरों पर भी आपके उपदेशों का प्रभाव पड़ता है और फलस्वरूप वे प्रतिज्ञाएँ लेते हैं।

मुनि दीक्षा लेने के बाद अब तक निम्नलिखित स्थानों पर आपका चातुर्मास्य योग हुआ है—

विक्रम संवत् १६८२ में—ललितपुर। सं० ८३-८४ में इन्दौर। सं० ८५ में—कोडरमा। सं० ८६ में—जबलपुर। सं० ८७ में—दमोह। सं० ८८ में—खुरई। सं० ८९ में—टीकमगढ़। सं० ९० में—भिंड। सं० ९१ में—आगरा। सं० ९२ में —लाडनूं। सं० ९३ में—जयपुर। सं० ९४ में—अजमेर। सं० ९५ में—उदयपुर (मेवाड़)। सं० ९६ में—करावर (मेवाड़)। सं० ९७ में—मिंडर (मेवाड़)। सं० ९८ में—भीलवाड़ा (मेवाड़) सं० ९९ में—लाडनूं। सं० २००० में—कुचामन। सं० २००१ में—जयपुर। इन सभी स्थानों पर आपकी पावन-कृपा से जनता को बहुत लाभ पहुँचा है।

विषय सूची

❀ श्रीमहावीरस्वामिनेनमः ❀

श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

नाथान्वयं मोहविनाशनेशं वीरं महा-बोधकरं जनानाम् ।
नत्वा ह्ययं संयम-सत्प्रकाशः संगृह्यते मुक्तिकरो मुनीनाम् ॥ १

विषय-प्रवेश

संयम की आवश्यकता

संयम मनुष्य-जीवन का सार है। उसके बिना मनुष्य-जीवन की कोई उपयोगिता ही नहीं है। मनुष्य और पशु में जो भेद है वह संयमकृत ही है। नहीं तो दोनों में अन्तर ही क्या है? स्वर्गों के इन्द्रादिक देव मनुष्य-जीवन पाने की इसीलिये कामना करते रहते हैं कि वे मानव देह धारण कर संयमी बनें और मनुष्य के अन्तिम ध्येय निर्वाण को प्राप्त हों।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों ही पुरुषार्थों में संयम की अपेक्षा है। मनुष्य का सच्चा पुरुषार्थ संयम पालन करने में ही है। क्योंकि पुरुषार्थ का अर्थ है—पुरुष का प्रयोजन और वह संयम-पालन के बिना सिद्ध नहीं हो सकता।

संयम जीव को अपूर्व शान्ति देता है। इसके पालन करने से उसे संसार की झंझटों से छुटकारा प्राप्त होता है। संयमी बड़ी से बड़ी आपत्ति की भी पर्वाह नहीं करता। प्रलोभन उसे अपने निश्चय से डिगा नहीं सकते। वह संसार, शरीर और भोगों से विरक्त रहता है। क्षणभंगुर भोग उसे लुभा नहीं सकते। वासनाओं के वह वश में नहीं होता। संसार के वैभव की उसे पर्वाह नहीं होती। सम्राट् के आगे भी संयमी को झुकने की आवश्यकता नहीं होती, सम्राट् ही उसके चरणों में मस्तक झुकाता है। संयम एक प्रकार का पवित्र जलाशय है, जिसमें आत्मा के सारे मैल धुल जाते हैं।

जिसने इस महान दुर्लभ मनुष्य भव को पाकर भी अपने जीवन में संयम को नहीं उतारा, उसके समान संसार में कौन अभागा होगा? जैसे किसी मूर्ख ने कौवा उड़ाने के लिये दुर्लभ चिन्तामणि को काम मे लिया हो, उसी तरह जो नर-देह को भोगों में व्यतीत कर संयम की अवहेलना करता है वह महा मूर्ख है।

अपने जीवन में संयम को उतारना सचमुच बहुत कठिन है। सतत अभ्यास के बिना जीवन संयत नहीं बन सकता। संयमी पुरुषों की संगति और संयम का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का स्वाध्याय भी मनुष्य को संयम पालने में मदद देते हैं। यही विचार कर हम भव्य जीवों के कल्याणार्थ संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ करते हैं।

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने संयम-विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, पर वे संस्कृत एवं प्राकृत में होने के कारण सर्व साधारण के लिये उपयोगी नहीं हैं। वे विद्वानों के ही उपयोग की चीज हैं। उनके अतिरिक्त संयम के विभिन्न भेद भिन्न भिन्न ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। मुमुक्षुओं के कल्याण के लिये उन सब का संग्रह होना आवश्यक जान पड़ता है। हमने संयम का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का स्वाध्याय करके जो कुछ सार संग्रह किया है, उसी को इसमें लिखेंगे।

इस ग्रन्थ में जो भी कुछ लिखा जायगा, वह सब पूर्वाचार्यों के कथन के अनुकूल ही होगा। मूलसंघ की आम्नाय के विरुद्ध कुछ नहीं लिखा जायगा। भगवान कुन्दकुन्द, आचार्यवर्य तत्त्वार्थ-सूत्रकार उमास्वामी, आचार्य समन्तभद्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, आचार्य शिवकोटि, वट्टकेर स्वामी, स्वामी कार्तिकेय मुनि, वसुनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती, श्री जिनसेनाचार्य, श्री गुणभद्राचार्य, श्री शुभचन्द्राचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री अमितगति आचार्य, पंडित सोमदेव, पं० आशाधर आदि अनेक ग्रन्थकर्त्ताओं के अभिप्रायों का हमने इस ग्रन्थ में उपयोग किया है, इसलिए वे सभी हमारी भक्ति के पात्र हैं। यह कोई नवीन कृति नहीं, संयम के विषय में पूर्वाचार्यों के अभिप्रायों का विस्तृत रूप में संकलन मात्र है। इसे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न समझे। यदि हमारी समझ में कुछ अन्यथा आया हो तो शास्त्र के पूर्ण रहस्य के ज्ञाता विद्वज्जन उसका सुधार करें और त्रुटियों पर ध्यान न देवें।

संयम की परिभाषा

मन एवं मन के अनुसार चलने वाली इन्द्रियों को विषय-वासना में प्रवृत्त न होने देना संयम है। संयम आत्मोन्मुखी होता है। वह मन अथवा इन्द्रियों की जड़ प्रवृत्ति को रोकता है। किन्तु उस संयम का एक रूप नहीं है। वह नाना रूपों में आत्मा की मानस भूमिका में प्रस्फुटित होता है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उन सब रूपों का संग्रह करते हुए संयम के सम्बन्ध में लिखा है :—

वद-समिदि-कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जओ संजमो भणिओ ॥

अर्थ—पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, तीन दंडों* का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों का जीतना संयम कहा गया है। वास्तव में उक्त गाथा संयम की सिद्धि के लिये उपाय बताती है। कहे हुए बाईस कार्यों से मनुष्य संयमी बनता है। इसी तरह श्री वट्टकेर स्वामी ने जो संयम के दो भेद बतलाये हैं, उनसे भी इसके विविध रूपों एवं विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने प्राण-संयम और इन्द्रिय-संयम के नाम से संयम के दो भेद किये हैं। महाव्रती संयमी के लिए उन भेदों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि वे इनको जाने बिना अपने संयम की रक्षा नहीं कर सकते। मूलाचार में प्राण-संयम के अनेक भेद किये हैं—

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—इन पाँच स्थावरकायिक जीवों की रक्षा करना पाँच प्रकार का स्थावरकाय संयम। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय—इन चार त्रसकायिक जीवों की रक्षा करना चार प्रकार का त्रसकाय संयम। तथा सूखे तृण आदि अजीव कायों का

* मन, वचन और काय—इन तीनों से होने वाले पापों को तीन दण्ड कहते हैं।

छेद न करना अजीवकाय संयम। ये दृश एवं नेत्रों से किसी वस्तु व उसके स्थान को देखकर पीछी से प्रमार्जित करना अप्रतिलेख संयम। किसी वस्तु व स्थान को यत्न से अच्छी तरह प्रमार्जन करने रूप दुःप्रतिलेखन संयम। शास्त्र, कमंडलु आदि उपकरणों को प्रतिदिन देख लेना कि उनमें जीव तो नहीं है वह उपेक्षा संयम। दो इन्द्रिय आदि जीवों को अपने स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर न रखने रूप अपहरण संयम। यह चार संयम और मन, वचन, काय के तीन संयम इस तरह १७ प्रकार का प्राण संयम बतलाया गया है। चौदह जीव-समासों के रक्षण को भी प्राण-संयम कहते हैं।

पॉच रस, पॉच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर और मन का विषय इन अट्ठाईस विषयों से पॉचों इन्द्रिय और मन को रोकना इन्द्रिय-संयम है।

अनगार धर्मामृत में छह काय के जीवों की रक्षा को प्राणि-संयम और पॉचों इन्द्रियों व मन के निग्रह को इन्द्रिय-संयम कहा है और इस तरह अपहृत संयम के दो भेद किये हैं।

राजवार्तिक में सयम के भेद कुछ और ढंग से किये गये हैं। वहॉ राग-द्वेष के त्याग को उपेक्षा संयम और प्राणियों की रक्षा को अपहृत संयम कह कर सयम को दो भागों में बॉटा गया है।

संयम के प्रतिपक्षी

राग-द्वेष की कमी से संयम की प्राप्ति होती है और क्रोधादि कषायों से संयम का विनाश (असंयम) होता है, इसलिए कषाय भाव संयम के प्रतिपक्षी हैं। "कषन्ति-हिंसन्ति सयमगुण इति कषाया, सयमविरुद्धास्तीव्रपरिणामाः कषाया भावक्रोधादयः।" अर्थात् जो संयम गुण का नाश करें, आत्मा के संयम की प्राप्ति न होने दें वे कषाय हैं। यहॉ कषाय शब्द से उन भाव क्रोधादिरूप तीव्र परिणामों का ग्रहण किया गया है, जो आत्मा में संयम नहीं होने देते।

अतः संयम की प्राप्ति के लिये कषायों का स्वरूप जान कर उनसे बचने का उपाय करना आवश्यक है। कषायों का विशेष स्वरूप जानने के लिये यहॉ प्रथम कषायों के सम्बन्ध में लिखा जाता है—

कषायों का संबध आत्मा के साथ अनादिकाल से है। कर्मों से लिप्त आत्मा के विभाव भावों की उत्पत्ति होती है और उन विभाव भावों के कारण पुद्गल वर्गणाऍ कर्मरूप बन कर आत्मा के प्रदेशों के साथ बंध जाती है और उनके कारण पुनः विभाव परिणति होती है।

जिस प्रकार चिकने घड़े पर मिट्टी के कण चिपक जाते हैं उसी प्रकार कषायों से सचिक्कण आत्मा के प्रदेशों पर कर्म-वर्गणाएँ आकर चिपट जाती हैं। जिससे जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है और दुःख भोगना पड़ता है।

कषायों का संबध दशवें गुणस्थान तक है और वहॉ तक ही साम्परायिक आस्रव-बंध होता है। अगले गुणस्थानों में कषायों का अभाव होने से ईर्यापथिक आस्रव ही होता है, साम्परायिक नहीं। इससे सिद्ध है कि कषायें ही ससार बढ़ाने वाली हैं। रागी जीव के ही कर्मबन्ध होता है और वीतराग के कर्मबन्ध नहीं होता। इसीलिये कषाय को आत्मा का परम शत्रु माना गया है। शत्रु तो जीव को एक भव मे ही दुःख देता है, किन्तु कषाय-शत्रु अनेक भवों मे भी जीव का पीछा नहीं छोड़ता।

कषाय के वश होने से मुनि भी पद-भ्रष्ट हो जाता है। यदि कोई मुनि दीक्षा लेकर भी कषायों का धारक और इन्द्रियों के विषयों का

भोगता है तो वह बंधन से छूट कर भी फिर बंधन में गिरता है। अच्छे मुनि मृत्यु को पसंद कर सकते हैं, परन्तु उभयलोक के सुख का नाश करने वाली कषायों का बढ़ाना कदापि अच्छा नहीं समझते। जैसे कवच पहने हुए और हाथ में शस्त्र लिए हुए योद्धा रण-क्षेत्र से भागे तो उसकी निन्दा होती है, उसी प्रकार जो मुनि होकर भी कषायों के वशीभूत होता है उसकी सब निन्दा करते हैं। जैसे आभूषण पहने हुए कोई मनुष्य यदि भीख माँगने लगे तो उसकी निन्दा होगी, उसी प्रकार जिनलिंग को धारण करके भी यदि कोई कषाय करे तो उसकी निन्दा कैसे नहीं होगी? इसी प्रकार कोई चाहे कितना ही ज्ञानवान क्यों न हो, कषायों को जीते बिना संसार के दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता। जैसे शारीरिक बल या पराक्रम सम्पन्न पुरुष ही अपने हाथ में लिए हुए शस्त्र से शत्रु का नाश कर सकता है, उसी प्रकार कषाय व इन्द्रियों का विजयी व्यक्ति ही अपने ज्ञान के प्रयोग से अशुभ कर्मरूपी शत्रुओं का नाश कर सकता है। अथवा जैसे डरपोक के हाथ का शस्त्र स्वयं उसी का घातक बन जाता है, वैसे ही कषायों से दूषित ज्ञान भी स्वयं ज्ञानवान के गुणों का नाशक बन जाता है। उससे आत्मा का भला न होकर बुरा ही होता है। सच तो यह है कि कोई कितना ही ज्ञानवान क्यों न हो कषायों के उपशम के बिना चारित्रवान नहीं बन सकता।

वृत्ते नाक्षकषायार्त्तः श्रुतज्ञोऽपि प्रवर्तते ।
उड्डीयते कुतः पक्षी लूनपक्षः कदाचन ॥ (सं० भग० आ० १३६०)

जैसे पर कटा हुआ पक्षी कभी उड़ नहीं सकता उसी प्रकार श्रुतज्ञ (शास्त्र ज्ञानी) होकर भी यदि कोई कषाय और विषय वासनाओं के वशीभूत है तो वह चारित्र को धारण नहीं कर सकता। भाव यह है कि विद्वान तभी सच्चरित्र बन सकता है जब कि वह कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत न हो। इसलिए विद्वानों को चाहिये कि वे ज्ञान को प्राप्त कर विषय और कषायों का त्याग कर चारित्र धारण करें, तब ही वे आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं।

घोटकोच्चारतुल्यस्य किमन्तः कुथितात्मनः ।
दृष्टस्य बकचेष्टस्य करिष्यन्ति बहिः क्रियाः ॥ (सं० भग० आ० १३९५)

जैसे घोड़े की लीद बाहर से सुन्दर होने पर भी भीतर दुर्गन्धादि से भरी हुई होने से कार्यकारी नहीं, उसी तरह जो मुनि बाह्य में उपवास आदि क्रिया द्वारा उत्तम दिखता हो परन्तु अन्तरंग में कषाय कलुषित हो, बगुले की तरह कपटी हो, तो उसकी बाह्य क्रियाओं से कोई लाभ नहीं। परन्तु इससे बाह्य क्रियायें निरर्थक हैं—यह नहीं समझना चाहिए, उनका भी उपयोग है।

मता बहिः क्रियाशुद्धिरन्तर्मलविशुद्धये ।
बहिर्मलक्षयेणैव तंदुलोऽन्तर्विशोध्यते ॥ (सं० भग० आ० १३९६)

बाह्याचरण की शुद्धता तो अन्तरंग कषाय मैल को धोने के लिये ही है, जैसे कि चांवल के ऊपर का छिलका यदि न हटे तो उसका भीतरी मैल दूर नहीं हो सकता। बाहरी मैल के दूर होने पर ही उसके अन्तरंग भाग की शुद्धि की जा सकती है।

कषायों के भेद व उनका स्वरूप

पढमो दंसणघाई बिदियो तह देसविरदि घाई य ।
तदिओ संजम घाई चउत्थो जहक्खाद घाई य ॥
अन्तोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखसंखणन्त भवं ।
संजलणमादियाणं वासण कालो दु णियमेण ॥ (अन० पृष्ठ ३६६)

अनंतानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन का, अप्रत्याख्यानावरण देशविरति का, प्रत्याख्यानावरण सकल-संयम का, और संज्वलन यथाख्यात चारित्र का घात करती है। अर्थात् उक्त कषायों के उदय में सम्यग्दर्शनादिक नहीं हो सकते।

अनंतानुबधी क्रोधादि की स्थिति संख्यात, असंख्यात, अनन्त भव; अप्रत्याख्यानावरण की ६ मास, प्रत्याख्यानावरण की एक पक्ष और संज्वलन की अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है।

दृषद्वनिरजोऽम्बुराजिवदश्मस्तम्भास्थिकाष्ठवेत्रकवत् ।
वंशाङ्घ्रिमेषशृङ्गोक्षमूत्रचामरवदनुपूर्वम् ॥ ३२ ॥
क्रिमिचक्रकायमलरजनिरागवदपि च पृथगवस्थाभिः ।
क्रुन्मानदम्भलोभा नारकतिर्यङ्नृसुरगतीः कुर्युः ॥३३॥ (अन० अ० ६)

(१) जैसे पत्थर की शिला खंडित हो जाय तो वह फिर सैकड़ों उपायों से भी जैसी की तैसी जुड़ नहीं सकती, उसी तरह अनंतानुबंधी क्रोध से फटा हुआ मन फिर सैकड़ों उपायों से भी नहीं मिल सकता।

(२) जैसे फट जाने पर जमीन कई उपायों से मिल सकती है, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण क्रोध से रुष्ट हुआ मन भी उपायान्तर से प्रेम भाव को प्राप्त हो सकता है।

(३) जैसे धूल में खींची हुई रेखा सुगमता से मिट जाती है; वैसे ही प्रत्याख्यानावरण क्रोधी का मन भी सुगमता से प्रसन्न हो जाता है।

(४) जैसे जल में रेखा खींचते ही मिट जाती है, वैसे ही संज्वलन क्रोधी का क्रोध भी तत्काल शान्त हो जाता है।

मान कषाय से मन, वचन व काय में कठोरता आती है। अतएव जैसे पत्थर के खंभे में, हड्डी में, लकड़ी में और कोमल बेत में उत्तरोत्तर कठोरता कम होती जाती है, उसी प्रकार इन अनन्तानुबन्धी आदि के मान द्वारा उत्पन्न हुई मन, वचन व काय रूप तीनों योगों की कठोरता भी उत्तरोत्तर कम समझनी चाहिये।

माया में योगो की वक्रता (कुटिलता या टेढ़ापन) रहती है। इसलिये वक्रता को प्रदर्शित करने वाले ही इसके दृष्टान्त दिये जाते हैं। बांस की जड़, मेढ़े के सींग, गौ मूत्र की धार अथवा चमर और खुरपे की तरह अनंतानुबन्धी आदि भेदों वाली माया में वक्रता होती है।

लोभ में स्थिरता-टिकाऊपन दिखलाने के लिये रंगों का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे किरमिच के लाल रंग से रंगा हुआ कम्बल जल जाने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, लाल से अधिक काला बन जाता है, उसी तरह अनंतानुबन्धी लोभ भी इतना टिकाऊ है कि वह अनेक भवों तक जीव का साथ नहीं छोड़ता। उससे उतरता हुआ गाड़ी के पहिये का ओंगन (चीकट) है। उससे उतरता हुआ शरीर का मैल,नाक का मल आदि का चीकट है । उससे उतरता हुआ हल्दी से रंगा हुआ कपड़ा है,जो जल्दी से अपने रंग को छोड़ देता है। ये तीनों दृष्टान्त अप्रत्याख्यानावरण आदि के लोभ के जानने चाहिये।

ये अनंतानुबन्धी क्रोधादिक क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति को प्राप्त कराते हैं। अर्थात् अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ से नरक गति की प्राप्ति होती है। इसी तरह अन्य कषायों के संबंध में भी समझ लेना चाहिये।

उक्त गाथाओं तथा श्लोकों के भाव का दर्शक कोष्ठक

नाम	भेद	घातक	स्थिति	दृष्टान्त	गति
अनंतानुबन्धी	क्रोध	सम्यग्दर्शन	सख्यात असख्यात अनतभव	शिला	नरक गति
”	मान	”	”	पत्थर	”
”	माया	”	”	बांस की जड़	”
”	लोभ	”	”	कृमिराग	”
अप्रत्याख्यानावरण	क्रोध	देश संयम	६ मास	पृथ्वी	तिर्यञ्च गति
”	मान	”	”	हड्डी	”
”	माया	”	”	मेढ़े के सींग	”
”	लोभ	”	”	गाड़ी के पहिये का ओंगन	”
प्रत्याख्यानावरण	क्रोध	संयम	१५ दिन	धूलिरेखा	मनुष्य गति
”	मान	”	”	काष्ठ	”
”	माया	”	”	गोमूत्र	”
”	लोभ	”	”	शरीर का मैल	”
संज्वलन	क्रोध	यथाख्यात चारित्र	अन्तर्मुहूर्त्त	जल रेखा	देव गति
”	मान	”	”	बेत	”
”	माया	”	”	खुरपा	”
”	लोभ	”	”	हल्दी	”

क्रोध कषाय की निन्दा

"अज्ञानकाष्ठजनितस्त्वपमानवातैः, संधुक्षितः परुष वा गुरुविस्फुलिंगः ।
हिंसाशिखोभृशसमुत्थितवैरधूमः, क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवनं नराणाम् ॥"

अज्ञान रूपी काष्ठ से उत्पन्न हुई तिरस्कार रूपी हवा से प्रज्ज्वलित, कठोर वचनरूपी स्फुलिंगो (चिनगारियों) को निकालने वाली हिंसारूपी ज्वालाओं (लौं) की धारक और वैर रूपी धुओं को फैलाती हुई क्रोध रूपी अग्नि मनुष्यों के धर्म रूपी वन को भस्म कर देती है। क्रोधी जीव असभ्य वचन बोलता है, पिशाच-पीड़ित की तरह कॉपता है, लाल-लाल ऑखें फाड़ता है, दॉतों से होठों को चबाता है, ललाट की रेखायें चढ़ाता है और ऐसा दिखाई देने लगता है जैसे राक्षस ही हो। भावार्थ—जैसे अग्नि जिस काष्ठ से उत्पन्न होती है उसी को पहले जलाती है, उसी प्रकार जो मनुष्य दूसरों को मारने के लिये क्रोध करता है, वह अपने क्षमा-भाव की हिंसा करके शरीर को भी हानि पहुँचाता है, दूसरा चाहे मरे या न मरे। क्रोध से मुनि भी ऐसा ही निन्दित कार्य कर बैठते हैं जिससे दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। जैसे द्वीपायन मुनि, स्वर्ग जैसी द्वारका नगरी को भस्म करके नरक में गया। क्रोध एक ऐसी अग्नि है जो अन्तरंग में आत्म-परिणाम (स्वभाव) को और बाह्य में शरीरादिक को भस्म करती है। क्रोध ऐसा अपूर्व पिशाच है जो इस जन्म में तो दुःख देता ही है, परन्तु भव-भव मे दुःख दिये बिना नहीं रहता। यह एक ऐसा अन्धकार है जो विवेक की ऑखों को भी अन्धा कर देता है।

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः शरीरिणाम् ॥९॥ (ज्ञानार्णव प्र० १६)

क्रोधोन्मत्त होकर मनुष्य हर तरह के पाप करने के लिये तैयार हो जाता है। वह अपनी और दूसरे की तत्काल हानि कर लेता है। कहाँ तक कहें, क्रोधी के यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

मान–निन्दा

आयासकोपभयदुःखमुपैति मर्त्यो, मानेनसर्वजननिन्दितवेषरूपः ।
विद्यादयादमयमादिगुणांश्च हन्ति, ज्ञात्वेति गर्ववशमेति न शुद्धबुद्धिः ॥५०॥ (सुभा० रत्न०)

सब लोग जिसकी निन्दा करते हैं ऐसे वेष को (वस्त्र) धारण कर तथा धर्म, कुल व जाति के विरुद्ध अपना रूप बना कर अभिमानी मनुष्य परिश्रम, क्रोध, भय और दुख को पाता है। एवं विद्या, दया, दम (इन्द्रियों की विजय) व व्रत नियमादि गुणों को नष्ट कर देता है। इस कारण निर्मल चित्त के धारक जन मान के वशीभूत नहीं होते।

ज्ञान, कुल, जाति, बल, शरीर, धन, तप और ऐश्वर्य-प्रभुता (हुकूमत) का जो मद करता है उसका पतन निश्चित है। ऐसे मनुष्य के दोनो लोक नष्ट हो जाते हैं। अभिमानी का कोई आदर करना नहीं चाहता। कोई भी उसकी उन्नति को बर्दाश्त नहीं करता। आज तक जिन-जिन लोगो

ने अभिमान के शिखर पर चढ़ कर दूसरों का निरादर किया है, उनको भयंकर एवं घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ा है। रावण, जरासंध, कौरव आदि इसके उदाहरण हैं। अभिमानी, धर्मात्माओं का अपमान करता हुआ भी नहीं शर्माता। वह कर्तव्य की अवहेलना करता हुआ देर नहीं लगाता। कहाँ तक कहें, वह नीति को मिटा देता, विनय को हटा देता और निर्मल कीर्त्ति को मैली कर डालता है। उसके माता-पिता, बान्धव, मित्र आदि सभी शत्रु बन जाते हैं। कोई भी उससे प्रीति नहीं करता।

माया-निन्दा

"मायाकीर्त्तिविनाशिनी शुभमनोमातङ्गसिंही सदा ।
विश्वासगृहदाववह्निसदृशी सत्यागधाराधरी ॥
लोभाम्भोनिधिवर्द्धिनीशशिकला सौजन्यसंत्रासिनी ।
जैनेन्द्रामलशासनैकरसिकैर्भव्यैर्न कार्या क्वचित् ॥"

छल, कपट, जालसाजी, दगाबाजी, विश्वासघात, असत्य भाषण—ये सब माया का ही परिवार है। अतः निर्मल यश को नष्ट करने वाली शुभ परिणाम रूपी हाथी के लिये शेरनी के समान, विश्वास रूपी घर को जलाने के लिये वन की अग्नि के समान, सत्य रूपी पर्वत को बहाने के लिये जल की प्रबल धारा के तुल्य, लोभ रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिये चन्द्र-कला के सदृश, सज्जनता को भगा देने वाली माया जैन धर्म के प्रेमी भव्यों को कभी भी नहीं करनी चाहिये। अर्थात् धर्मात्माओं को उक्त अवगुणों की धारक माया का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

महात्मा पुरुष मन की बात वचन से कहते हैं और जो वचन से कहते हैं वही शरीर से करते हैं। परन्तु नीच जनों के मन में कुछ, वचन में कुछ और काय में कुछ और ही होता है। अर्थात् वे मन, वचन, काय में कुटिलता रखते हैं। जैसे गोदी में सोते हुए को मारने में कोई बहादुरी नहीं, वैसे ही किसी को विश्वास देकर ठगने में कोई चतुरता नहीं है। विश्वासघाती महापापी है। माया से तिर्यंच गति की प्राप्ति होती है। माया एक तरह की शल्य है, क्योंकि मायाचारी के मन में अपने कपट का भंडाफोड़ होने का भय सदा बना रहता है। मायाचारी; यम, नियम, व्रत, तप, उपवास आदि करे तो भी दुनियां उसको ढोंगी समझती है।

भेयं माया महागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिँल्लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥ (आत्मानु० २२१)

मिथ्या रूपी गहन अन्धकार से भरे हुए, माया नामक बड़े गहरे गड्ढे से डरना चाहिये। क्योंकि इसमें क्रोध, मान आदि बड़े-बड़े साँप छिपे हुए बैठे रहते हैं। भावार्थ—मायाचारी दूसरों के ऊपर ऐसा माया का जाल बिछाता है कि उसमें फँस कर मनुष्य उसके क्रोधादि रूप भावों का पता नहीं लगा सकता।

लोभ–निन्दा

जायन्ते सकला दोषाः लोभिनो ग्रन्थतापिनः ।
लोभी हिंसानृतस्तेयमैथुनेषु प्रवर्तते ॥ (भग० १४४७)

परिग्रह के संचय और संरक्षण में संलग्न रहने वाला लोभी मनुष्य जीव की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार में भी प्रवृत्त होता है। सारांश यह कि लोभ से पाँचों ही पाप हो जाते हैं। इसीलिये लोभ को पापों का बाप कहते हैं। जैसे ईंधन से अग्नि बढ़ती जाती है, उसी तरह लोभ से लोभ बढ़ता है। जैसे अग्नि धुएँ से सफेदी को मिटाती है और दाह पैदा करती है, उसी तरह लोभ परिणामों को मलिन और संक्लेश रूप करता है। लोभी मनुष्य को तीन लोक की सम्पदा मिल जाने पर भी सन्तोष न होने से दुःख होता है। जिसके तृष्णा नहीं है वह दरिद्री भी सन्तोष के प्रभाव से सुखी होता है। लोभ से व्याकुल मनुष्य धनवानों की हर तरह से खुशामद करता है, धन के लिए नाचता है, गाता है, भीख माँगता है, नाना प्रकार के शस्त्रों को धारण कर युद्ध में लड़ने जाता है, अपने जीवन को तृण के समान समझता है, भयानक वन में घूमता है, तूफान वाले समुद्र में चक्कर लगाता है। और भी कहा है—

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन् ।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ॥ (ज्ञानार्णव प्रकरण १६)

लोभी मनुष्य अपने स्वामी, गुरु, भाई, वृद्ध, स्त्री, बालक, दुर्बल अनाथ पुरुषों को भी निश्शंक हो मारता है और धन को ले लेता है। और तो क्या, अपने पुत्र–पुत्रियों को भी बेच देता है।

लोभी अपनी बदनामी की, मित्रता की परवाह नहीं करता और न अपने आश्रित स्त्री, पुत्र, सेवक आदि का पालन करता है, न अपने चारित्र की रक्षा कर सकता है और न किसी के अपने ऊपर किये हुए उपकार को याद रखता है।

लोभ अनेक प्रकार का हो सकता है। पं० आशाधरजी ने उसके ८ भेद किये हैं—

उपभोगेन्द्रियारोग्यप्राणान् स्वस्य परस्य च ।
गृध्यन् मुग्धः प्रबन्धेन किमकृत्यं करोति न ॥ (अन० अ० ६)

(१) स्वजीवित लोभ—अपने जीने का लोभ।
(२) परजीवित लोभ—स्त्री, पुत्र आदि का जीवन चाहना।
(३) स्व-आरोग्य लोभ—अपने स्वास्थ्य की वृद्धि व रक्षा चाहना या रोग मिटाने की चिन्ता करना।
(४) पर आरोग्य लोभ—स्त्री, पुत्रादि की नीरोगता चाहना।
(५) स्व-उपभोग्य लोभ—अपने भोगने योग्य गृह, वस्त्र, आभूषण, वाहन आदि पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा या तृष्णा रखना।

(६) पर उपभोग्य लोभ—स्त्री, पुत्रादि के भोगने योग्य पदार्थों को चाहना या उनका संग्रह करना।
(७) स्व-इन्द्रिय लोभ—अपनी इन्द्रियों की खूब पुष्टि [मोटा ताजापन] चाहना।
(८) परइन्द्रिय लोभ—स्त्री, पुत्र आदि की इन्द्रियों की शिथिलता न चाहना।

उक्त आठ प्रकार के लोभ के वशीभूत हुआ यह जीव कुगुरु, कुदेव आदि का पूजन, नीच से नीच व्यक्तियों के घर पर गमन और उनका आदर आदि करता है तथा जीवों का बलिदान करने व मांस मद्य आदि अभक्ष्य का भक्षण करने में भी नहीं हिचकता है।

धर्म-कर्म को भूल कर रात-दिन इसी हाय-हाय में लगा रहता है, तथा अनावश्यक आरंभ परिग्रह को बढ़ाता है। जुआ खेलना, शिकार करना, वेश्या सेवन, परस्त्री-गमन आदि व्यसनों का सेवन करता है। ऐसा कोई अकृत्य नहीं, जिसको लोभी न करता हो।

कषाय सामान्य निन्दा

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम्, नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः।
इयं च मायाऽऽर्जवतः प्रतिक्षणं, निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये ॥७२॥ (ज्ञानार्णव प्रकरण १९)

अर्थ—क्रोध रूपी अग्नि को शान्त-भाव रूपी जल से बुझाना; कोमल परिणामों से मान की कठोरता को हटाना; मन, वचन, काय की सरलता से अर्थात् आर्जव से माया की कुटिलता मिटाना और लोभ की शान्ति के लिये निस्पृह भाव धारण करना चाहिये। अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषाय शत्रुओं का नाश करने के लिये क्रमशः क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच धर्म का धारक बनना चाहिये। क्योंकि यह क्षमा आदि रूप परिणाम आत्मा के स्वभाव हैं और क्रोधादि आत्मा के विभाव हैं। भावार्थ—जैसे जल का स्वभाव शीतलता (ठडापन) है, परन्तु वह अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है। उसी तरह आत्मा के जब क्रोध का निमित्त मिलता है, तब वह अपने क्षमा स्वभाव को छोड़ कर क्रोधी बन जाता है। अतः क्रोध शुद्ध आत्मा का भाव नहीं, विभाव है। जैसे हल्दी में पीलापन और चूने में सफेदी है, परन्तु दोनों का मेल होने से दोनों ही अपने स्वभाव को छोड़ कर लाल रंग के रूप में हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा चेतन है, कर्म अचेतन हैं, इन दोनों के संयोग से क्रोध की उत्पत्ति होती है। वास्तव में क्रोधादि न शुद्ध आत्मा में हैं, न जड़ रूप कर्म-वर्गणा में। किन्तु दोनों के मेल से पैदा होते हैं। अतः इनको आत्म-स्वभाव से भिन्न और पर समझना चाहिये। पर-वस्तु को अपनाना ही अपराध है और राग-द्वेष का कारण है। इसलिए मुमुक्षुओं को पर पदार्थों के संसर्ग से बचना चाहिए और अपनी कषायों को मंद बनाना चाहिए। कषायों की मंदता के बिना कभी संयम का प्रकाश नहीं हो सकता।

सकल-संयम की सिद्धि गृहस्थों के नहीं होती। पूर्ण संयम का प्रकाश मुनियों के ही होता है। अतः इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में मुनि धर्म का विस्तार से वर्णन किया जाता है। तदनन्तर उत्तरार्द्ध में एकदेश संयम प्रकाश की योग्यता रखने वाले गृहस्थों के धर्म का प्ररूपण किया जायगा।

अथ मूलगुणाधिकार ।

मुनिधर्म में २८ मूलगुणों की मुख्यता है। अत सर्व प्रथम उन्हीं का विवेचन किया जाता है ।

मूलगुण कहते हैं मुख्य गुणों को। मूल शब्द का अर्थ है जड़ और गुण शब्द का अर्थ है आचरण (क्रिया)। जड़ के बिना जैसे वृत्त की स्थिति नहीं होती, वैसे ही जिन क्रियाओं के बिना मुनिपद की स्थिति नहीं होती वे क्रियायें ही मुनियों के मूलगुण हैं।

मूलगुण २८ हैं। प्रवचनसार के चारित्राधिकार में लिखा है—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सकमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥

पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, पाँच इन्द्रियों का निरोध करना, केश-लोंच करना, षट् आवश्यकों का पालन करना, वस्त्र का त्याग करना, स्नान न करना, पृथ्वी पर सोना, दन्त धावन का त्याग (काष्ठ, चूर्ण आदि से दाँतों को नहीं माँजना), खड़े हुए भोजन लेना और एक बार ही खाना—यह मुनियों के २८ मूलगुण हैं। इनमें से एक की भी कमी रहने पर कोई मुनी नहीं कहला सकता ।

उक्त मूलगुणों में सब से प्रथम पाँच महाव्रतों को गिनाया गया है। अतः अब यहाँ सर्व प्रथम महाव्रतों के सम्बन्ध में ही कुछ लिखा जाता है।

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ (तत्वार्थसूत्र अध्याय ७।१)

हिंसा, झूँठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह—इन पाँच पापों से विरति (त्याग) होने को व्रत कहते हैं।

इन व्रतों का सम्यक् रीति से पालन करने पर जीव के शुभ कर्मों का आस्रव होता है।

व्रत शब्द के दो अर्थ हैं—अशुभ कार्यों (पापों) से निवृत्ति या शुभ कार्यों में प्रवृत्ति। उक्त सूत्र में व्रत शब्द का अर्थ निवृत्ति रूप है। अर्थात् हिंसा आदि पापों से निवृत्ति को व्रत कहा गया है । अहिंसाव्रत आदि में जो व्रत शब्द का प्रयोग हुआ है—वह है प्रवृत्ति प्रधान । वहाँ पर अहिंसा आदि का बुद्धि पूर्वक स्वीकार करना अर्थात्—'मैं अहिंसा का पालन करूँगा', 'सत्य बोलूँगा'—इत्यादि रूप अपने परिणामों द्वारा की हुई प्रतिज्ञा को व्रत शब्द का अर्थ समझना चाहिए।

जैसे इन हिंसादि पाँच पापों से आत्मा के अशुभ कर्मों का आस्रव होता है, उसी प्रकार पुण्यरूप (परिणामों की निर्मलता से आत्मा को पवित्र करने वाले) अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के पालन से आत्मा के साता वेदनीय आदि शुभ कर्मों का आस्रव होता है।

शङ्का—महाव्रतों का संवर के भेदों में भी वर्णन किया गया है, तब यहाँ आस्रव का कारण क्यों बतलाया ?

उत्तर—अहिंसा आदि में जो 'नञ्' पद है, उसके दो अर्थ माने गये हैं—एक पर्युदास और दूसरा प्रसज्य। पर्युदास अर्थ में तत्सदृश का ग्रहण होता है और प्रसज्य अर्थ में वस्तु का निषेध ही होता है। जब पर्युदास अर्थ लिया जाता है, तब अहिंसा शब्द से, हिंसा से इतर, जीव-रक्षा रूप शुभ परिणामों का ग्रहण होता है और जब प्रसज्य अर्थ लिया जाता है, तब अहिंसा के अभाव रूप आत्मा की शुद्ध परिणति का ग्रहण होता है। अतः पर्युदास अर्थ ग्रहण से अहिंसा आदि व्रत शुभास्रव के कारण हैं और प्रसज्य अर्थ लेने से संवर के कारण माने गये हैं।

प्रश्न—रात्रि भोजन त्याग को उक्त व्रतों के साथ क्यों नहीं गिनाया गया ?

उत्तर—अहिंसा व्रत की जो 'आलोकित-पान-भोजन' नामक भावना है, उसी में रात्रि-भोजन त्याग गर्भित है। क्योंकि दोनों का प्रयोजन एक ही है।

उक्त व्रत सम्यक् दर्शन व सम्यग्ज्ञान पूर्वक होने चाहिए। अन्यथा वे समीचीन नहीं कहला सकते। रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन की ही मुख्यता है, पर इससे व्रतों की उपयोगिता भी कम न समझनी चाहिए। जब तक व्रत न हो, तब तक सम्यग्दर्शन से शंकादिक दोष पूर्ण रूप से दूर नहीं होते। सम्यग्दर्शन में जैसी निर्मलता होनी चाहिए, वैसी निर्मलता नहीं आती। दूसरे, व्रतों के बिना, केवल सम्यग्दर्शन इन्द्रादि के पदों की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं होता। तीसरे, बिना व्रतों के सम्यग्दर्शन कर्मों की निर्जरा करने में भी पूर्ण रूप से समर्थ नहीं होता। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान वाले अव्रत सम्यग्दृष्टि के जो कर्मों की निर्जरा होती है, उससे असंख्यात गुणी निर्जरा पचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती (श्रावक) के और उससे भी असंख्यात गुणी निर्जरा महाव्रती (छठे गुणस्थानवर्ती मुनि) के होती है। अतः जैसे सम्यग्दर्शन के बिना व्रतों में समीचीनता नहीं आती, उसी प्रकार व्रतों के बिना सम्यग्दर्शन का प्रभाव पूरा नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शन और व्रतों में परस्परोपकार्योपकारकता समझनी चहिए।

व्रतों के दो भेद हैं—एकदेश और सकल देश। एकदेश व्रतों को अणुव्रत और सकलदेश व्रतों को महाव्रत भी कहते हैं। स्थूल हिंसादि के त्याग या स्थूल अहिंसा आदि के पालन से एकदेश व्रत होता है और पूर्ण रीति से—स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही रीति से हिंसा आदि के त्याग एवं अहिंसा आदि के पालन को सकलदेश या महाव्रत कहते हैं। उपेक्षा और अपहृत नामक संयम के दो भेदों में पहला निवृत्ति रूप है, क्योंकि इसमें मन, वचन, काय की गुप्ति के द्वारा राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति का निरोध करने से हिंसा का ही पूर्ण रीति से बचाव किया गया है। दूसरा प्रवृत्ति रूप है, क्योंकि इसमें पाँच समितियों के पालन द्वारा षट्काय के जीवों की दया का पालन होता है।

व्रतों में अहिंसाव्रत की मुख्यता है, क्योंकि अन्यव्रत केवल इसी की सिद्धि के लिये हैं। उनका व्याख्यान तो सिर्फ अहिंसा को विस्तार से समझाने के लिये ही किया गया है। चारित्रसार में कहा है—"अहिंसाव्रतं स्वर्गापवर्गफलप्रापणहेतुस्तत्परिपालननिमित्तं शेषव्रतानि।"

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी लिखा है—

"आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥"

अर्थ—असत्य भाषण, चोरी करना, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—यह सब आत्मा के परिणामों की हिंसा के कारण होने से हिंसा-रूप ही हैं। तथापि शिष्यों (मन्दबुद्धि के धारक धर्मजिज्ञासुओं) को समझाने के लिये उस हिंसा को ही असत्य भाषण आदि शेष चार पापों में बाँट दिया है।

अहिंसा महाव्रत

हिंसा का स्वरूप

प्रमाद के संबंध से किसी के प्राणों का वियोग करना हिंसा है। प्रमाद का योग न होने पर केवल प्राण-वियोग से हिंसा नहीं होती। कहा भी है—

> उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
> आवदेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥ १ ॥
> ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो वि देसिदो समये ।
> मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥ २ ॥

अर्थ—ईर्या समिति के धारक मुनि पाँव उठा कर चल रहे हैं और चलने के स्थान में अकस्मात् कोई जन्तु आकर गिर पड़े और मुनि के पाँव के नीचे दब कर मर जावे, ऐसी अवस्था में उस मुनि को, पाँव के नीचे दब कर मरे हुए प्राणी के निमित्त से, आगम में सूक्ष्म वध भी नहीं कहा है; क्योंकि उसके अन्तरङ्ग में प्राणी के मारने के परिणाम नहीं हैं, लेकिन बचाने के ही भाव हैं।

उक्त कथन के विपरीत प्रमाद का संबंध होने पर किसी जीव के प्राणों का वियोग न हो तो भी उसके हिंसाजन्य दोष होता है। जैसा कि कहा है—

> मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
> पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ १ ॥

अर्थात् कोई जीव मरे या जिये, जिसकी प्रवृत्ति यत्नाचार पूर्वक नहीं है, जो जीव रक्षा के लिए प्रयत्न नहीं कर रहा है, उसके हिंसा का होना निश्चित है। किन्तु जो समिति का पालन करता है, यत्नाचार-पूर्वक प्रवृत्ति करता है, उसके जीव-हिंसा मात्र से कर्म-बन्ध नहीं होता।

शङ्का—उपर्युक्त गाथा के अनुसार यदि प्राणघात के बिना भी हिंसा होती है तो सूत्र में प्राण-व्यपरोपण को ही हिंसा कैसे कहा गया है?

उत्तर—प्रमादवान व्यक्ति के प्राण-व्यपरोपण अवश्य होता है। दूसरे का घात चाहे न हो, अपने आप का घात तो होता ही है और यह भी हिंसा ही है। ऐसा ही कहा भी है—

> स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
> पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात् स्याद्वा न वा वधः ॥१॥

अर्थात प्रमादी आत्मा प्रमाद के योग से पहले अपने आप की हिंसा तो कर ही लेता है, अन्य प्राणियों का पीछे घात होवे या न होवे।

जिस प्रकार मदिरा पीने वाला व्यक्ति, मदिरा के नशे में होकर अपने हित, अहित या क्या कहना चाहिए, क्या नहीं कहना चाहिए— इत्यादि बातों को न जानता हुआ असावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है, उसी प्रकार प्रमादी पुरुष कषायादि के सम्बन्ध से जीवों की उत्पत्ति के स्थान, जीवों की योनियां तथा उनके आश्रय आदि को न जान कर, गमन आदि में हिंसा के कारणों को करता हुआ, सामान्य रूप से अहिंसा के पालन में प्रवृत्ति करे, तो भी प्रमत्त कहलाता है। अतः हिंसा से बचने के लिए सर्व प्रथम प्रमत्त-योग से बचना चाहिए। यदि प्रमत्त योग के बिना भी हिंसा मानी जाय, तब तो संसार में कोई अहिंसक ही नहीं हो सकता। क्योंकि—

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥ (राजवार्तिक अ० ७)

अर्थात—जल में, स्थल में, आकाश में सभी जगह जीव भरे हुए हैं, जीवों से व्याप्त संसार में गमनागमन करता हुआ भिक्षु (कोई भी जीव) अहिंसक कैसे हो सकता है ?

अप्रमादी के हिंसा न होने के कारण ही इसका यह उत्तर दिया गया है कि—

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥ (राजवार्तिक अ० ७)

अर्थात—जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और स्थूल। उनमें से जलादि में रहने वाले जो सूक्ष्म जन्तु हैं उनका तो किसी प्रकार घात हो ही नहीं सकता और जो स्थूल जन्तु हैं उनकी जितनी हो सकती है उतनी रक्षा की ही जाती है, फिर संयमी जीव के हिंसाजन्य दोष कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह अहिंसा के पालन में पूर्ण सावधान है। यदि हिंसा से विरति न हो, प्रमत्त योग हो तो भी हिंसा संभव है। यही हिंसा के प्रकरण में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा गया है—

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥४८॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

अर्थात—जो हिंसा में प्रवृत्ति कर रहा है उसके तो हिंसा होती ही है, परन्तु जो हिंसा में प्रवृत्ति तो नहीं करता, लेकिन जिसके हिंसा का त्याग नहीं है वह पुरुष भी हिंसा का भागी है। क्योंकि उसके प्रमत्तयोग है। अहिंसा धर्म के पालन में आदर न होने से वह सावधान नहीं है।

इसको समझने के लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है— धनाढ्य के घर पर पहरा देने वाले द्वारपाल का कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामी के धनादि की रक्षा के लिये जागता रहे। यदि उसकी जागृत-अवस्था में चोर आकर उसका मुँह बन्द कर तथा हाथ, पाँव वगैरह बाँध कर चोरी करके चले

जायें और प्रातःकाल धनिक जग कर उसकी अवस्था देखे, तो चोरी हो जाने पर भी उस द्वारपाल का कोई अपराध नहीं समझता है। क्योंकि उसकी सावधानी में कोई कमी नहीं थी, उसको विवश करके चोरों ने चोरी कर ली तो उसका क्या दोष ? यदि वही धनाढ्य द्वारपाल की होशियारी देखने के लिये रात में उठ कर उसे सम्हालने आये और वह उसे सोता पावे, तो चोरी न होने पर भी अपराधी समझेगा और उसे नौकरी से हटा देना आदि उचित दण्ड देगा। उसी प्रकार हिंसा से होने वाले बन्ध मे भी प्रमाद और अप्रमाद की ही विशेषता समझनी चाहिये।

अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन का प्राणी (जीव), प्राण और प्रमाद इन तीनों से सम्बन्ध है। अर्थात् जब तक जीव का स्वरूप और उनके भेद, प्राण व प्राणों के भेद, इन्द्रियों, पर्याप्तियों तथा प्रमाद के भेदों को न जाना जावे तब तक हिंसा से बचना नहीं हो सकता। अतः अब क्रमशः इनका वर्णन किया जाता है—

जीव का स्वरूप

जीव का स्वरूप अन्य मतों में सर्वथा नित्य, अमूर्त्त, अकर्त्ता आदि माना गया है, जिससे वे हिंसा में पाप मानते हुए भी हिंसा से बच नहीं सकते। जैन धर्म में जीव का स्याद्वाद नय से ऐसा स्वरूप माना गया है कि जिससे उपर्युक्त हिंसा का सर्वथा परित्याग होकर अहिंसा-धर्म का पालन हो सकता है।

(१) निश्चय नय से आत्मा नित्य (अमर) है तथापि व्यवहार नय से जिस-जिस जीव के जितने-जितने प्राण हैं उनके वियोग से वह मरण को प्राप्त होता है, अतः अनित्य है।

(२) निश्चय नय से आत्मा निराकार (अमूर्त्त) है तथापि व्यवहार नय से उसके साथ अनादि काल से मूर्त्ति के धारक पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है, अतः जब तक वह कर्मों से मुक्त न हो तब तक वह साकार (मूर्त्तिमान्) है।

(३) निश्चय नय से आत्मा दर्शन व ज्ञान रूप निज चेतन भावों का कर्त्ता है, तथापि अनादि काल से राग-द्वेषादिक रूप भाव कर्मों का भी कर्त्ता है। अतः स्व-भावों का अकर्त्ता भी है।

(४) निश्चय नय से आत्मा रत्नत्रय जनित स्वाभाविक सुख का भोक्ता है, तथापि व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्म रूप असाता साता के उदय से शरीरजन्य (पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों से उत्पन्न) दुख सुख का भी भोगने वाला है, अतः अपनेस्वाभाविक सुखों अभोक्ता भी है।

(५) यदि स्याद्वाद नय से जीव का ऐसा स्वरूप न माना जावे तो हिंसा का कोई रूप ही नहीं बन सकता, क्योंकि यदि जीव मूर्त्त न माना जावे तो उसका घात नहीं होने से जीव-घात कैसा ? यदि जीव को शारीरिक सुख-दुखों का भोक्ता नहीं माना जावे तो जब उसको शस्त्र प्रहारादि से भी दुःख न होगा। ऐसी दशा में द्रव्यहिंसा में पाप कैसे हो सकता है ? यदि आत्मा को राग-द्वेषादि रूप भावों का कर्त्ता न माना जावे तो भावहिंसा नहीं बन सकती।

जीवस्य हिंसा न भवेन्नित्यस्यापरिणामिनः ।
क्षणिकस्य स्वयं नाशात्कथं हिंसोपपद्यताम् ॥२९॥ (अन० धर्म की टीका अ० ४)

अर्थ—यदि जीव को एकान्त से नित्य (परिणमन रहित, अविनाशी) माना जावे तो उसकी हिंसा नहीं हो सकती। तथा यदि जीव को क्षण क्षण में विनाशशील माना जावे तो जब जीव प्रत्येक क्षण में अपने आप ही नष्ट होता है और दूसरे क्षण में दूसरे जीव की उत्पत्ति होती है तो ऐसी दशा में भी जीव की हिंसा नहीं बन सकती।

आत्म-शरीर-विभेदं वदन्ति ये सर्वथा गत-विवेकाः।
काय-वधे हन्त कथं तेषां सजायते हिंसा ॥२९॥
जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रे।
काय-विनाशे तेषां जीव-विनाशः कथं वार्यः ॥२४॥ (अन० धर्मा० की टीका अध्याय ४)

इसी प्रकार आत्मा को शरीर से सर्वथा जुदा मानने में शरीर का घात होने पर आत्मा का घात न होने से हिंसा नहीं हो सकती। और यदि शरीर से आत्मा को सर्वथा अभिन्न माना जावे तो ऐसी दशा में शरीर का नाश होने पर जीव का भी सर्वथा नाश मानना पड़ेगा। क्योंकि अचेतन शरीर से सर्वथा अभिन्न रहने वाला आत्मा उसके साथ ही सर्वथा नष्ट हो जायगा।

जीव रक्षा के लिये भोजन करना, पानी पीना, चोट-फेट से डरना, इत्यादि बहुत सी क्रियाएं प्रतिदिन करते हुए भी सर्व साधारण मनुष्य ऐसा समझे हुए हैं कि जो जीव जितनी आयु लेकर आता है, उतना ही जीता है। अन्य को जाने दीजिये कितने ही पढ़े लिखे व जैन शास्त्रों का स्वाध्याय करने वाले पुरुषों की भी ऐसी धारणा है कि जिसकी जितनी आयु है उसको वह पूरी भोग कर ही मरता है। इसी भ्रममें पड़कर बहुत से मनुष्य वैद्यक आदि शास्त्रों के उपदेशानुसार न तो स्वास्थ्य रक्षा पर ध्यान देते हैं, न मरण के बाह्य कारणों से बचने की चिंता करते हैं और न रोग होने पर उसको मिटाने का प्रयत्न करते हैं ? कितने ही धर्मध्वजी तो जैन शास्त्रों के रहस्य को न जान कर जिन नगरों वा ग्रामों में प्लेग, हैजा आदि का प्रकोप हो रहा हो उनको छोड़कर दूसरी जगह जाकर रहने में भी मिथ्यात्व समझते हैं, वे यह नहीं जानते कि शास्त्रों में " मनुष्यों की आयु का छेद नहीं होता " ऐसा कहने वाले को असत्यभाषी व मिथ्यात्वी माना है, न कि अकाल मृत्यु के बाह्य निमित्तों से बचने वालों को ?

सब से बड़ा विचारणीय विषय तो इस अहिंसा के वर्णन में यह है कि यदि समस्त संसारी जीव अपनी आयु कर्म का पूर्ण भोग करके ही मरें और बीच में किसी भी कारण से उनका मरण ही न हो तो ऐसी दशा में किसी भी जीव को कोई भी मारने वाला नहीं ठहर सकता ? तब कौन तो हिंसक बने, और किस की हिंसा हो, और हिंसा करने में पाप भी क्या लगे ? सारांश—जीव को मारने रूप अर्थ का धारक हिंसा शब्द ही निरर्थक हो जाता है। अतः इस भ्रम को दूर करने के लिये निम्न लिखित सिद्धान्त पर लक्ष्य देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

" औपपादिकचरमोत्तमदेहाः संख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः "

इस तत्त्वार्थसूत्र के कथनानुसार देव, नारकी, उत्तम शरीर वाले चरमशरीरी तीर्थंकरादि, असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों की आयु का तो छेद नहीं होता, किन्तु इनके सिवाय जो अन्य संसारी जीव हैं उनकी आयु में बाह्य निमित्तों से कमी हो जाती है। जैसा कि और भी कहा है :—

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं ।
उस्सासाहाराणं, णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ ५७॥ (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

अर्थात् विप भक्षण करने से, अथवा विष वाले जीवों के काटने से, अथवा रक्त जिसमें सूख जाता है ऐसे रोग से या धातुक्षय से, भयंकर वस्तु के दर्शन से या उसके बिना भी उत्पन्न हुए भय से, शस्त्र के द्वारा मर्म स्थान में चोट पहुँचने से, संक्लेश अर्थात् शरीर, वचन तथा मन द्वारा आत्मा को अधिक पीड़ा पहुँचाने वाली क्रिया होने से, या श्वास निरोधन (दम घुटने) से और आहार के न मिलने से आयु का छेद हो जाता है। इस कथन से स्पष्ट है कि बाह्य निमित्तों के मिलने से आयु का छेद भी हो जाता है।

भावार्थ—जैसे किसी मनुष्य के आयु कर्म का स्थिति बध तो १०० वर्ष का है, परन्तु उस पर बिजली गिर पड़े तो वह बीच में ही मरण को प्राप्त हो जायगा।

यहाँ स्पष्टीकरण के लिए एक दृष्टान्त और दिया जाता है :—

कोई मनुष्य एक मुनि की परीक्षा के लिये चिड़िया को अपनी ढीली मुट्ठी में पकड़ कर मुनि के पास गया और उसने पूछा कि महाराज ! इसकी कितनी आयु है ? मुनि ने विचारा कि यदि मैं यह कहता हूँ कि यह चिड़िया अभी इतने काल तक जीवित रहेगी, तब तो यह अभी हाथ से दबाकर चिड़िया को मार डालेगा। और यदि यह कहता हूँ कि यह अभी मरेगी तो यह चिड़िया को उड़ा देगा। अतः दोनों अवस्था में ही मेरा कथन असत्य हो जायगा। इसलिये ऐसा उत्तर देना चाहिए जिससे असत्यता न आवे। तब उन्होंने यह उत्तर दिया कि हे भाई ! इस समय इस चिड़िया की आयु तेरे हाथ में है, यदि तू मुट्ठी भींच देगा तो यह मर जायगी, और खोल देगा तो उड़ जायगी।

वास्तव में विचार किया जावे तो यह कथन ठीक ही है। क्योंकि पुण्य का क्षय, और बलवान बाह्य निमित्तों के मिलने से संसारी जीवों की अनिकांचित आयु का छेद होने में कोई बिलम्ब नहीं लगता। अतः यह मरण, अकाल मरण कहलाता है। इसलिये मरण के निमित्तों को मिलाकर किसी जीव को तत्काल मार देना, या शीघ्र मरण के कारणभूत मानसिक चिंताओं व शारीरिक दुःखों से पीड़ित करना आदि से जीव हिंसा होती है। इसमें किसी प्रकार का भी संशय न करके त्रस व स्थावर सभी जीवों की रक्षा करने पर पूर्ण ध्यान देकर हिंसा से बचना चाहिए।

जीवों के भेद

इन्द्रिय, बल, आयु आदि द्रव्य प्राणों और ज्ञान, दर्शन आदि भाव प्राणों से जीने वाले को जीव कहते हैं। जीव के मूल दो भेद हैं— संसारी और मुक्त। जो पंच परावर्त्तन रूप संसार से छूट गये हैं, ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्म, राग, द्वेषादि भावकर्म और औदारिक, वैक्रियक, आहारक इन तीन शरीर, एव आहार आदि छह पर्याप्ति रूप नो कर्म से जो रहित हैं उन्हें मुक्त कहते हैं। जो पंच परावर्त्तन करने वाले हैं, चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं, जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म विद्यमान हैं, वे संसारी जीव हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि केवली भगवान जो तेरहवें या चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान हैं वे संसारी है या मुक्त ? उन्हें संसारी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वे पंच परिवर्त्तन से रहित हैं। तथा वे मुक्त भी नहीं हैं, क्योंकि उनके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म एवं औदारिक शरीर रूप नो कर्म मौजूद हैं।

समाधान—केवली भगवान ईषत् संसारी हैं। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र में भी "संसारिणो मुक्ताश्च" इस सूत्र से 'च' शब्द द्वारा उन्हें संसारी और मुक्त से भिन्नरूप में ग्रहण किया है। यहाँ पर सामान्य रूप से जीव के दो भेद किये हैं; इसलिये संसारी-भेद में ही इनका ग्रहण होता है।

संसारी जीव दो भेदों में विभक्त किये गये हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म जीव उन्हें कहते हैं जो किसी के आधार पर नहीं रहते हों, किसी पदार्थ से जिनका अवरोध (रुकना) नहीं होता हो, अग्नि आदि किसी से भी जिनकी मृत्यु नहीं होती हो, अपनी आयु पूर्ण करके ही मरण करते हों। सूक्ष्म जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं।

बादर वे हैं—जो मूर्त्त पदार्थों से रुकते हैं, अग्नि आदि से जिनका घात होता है। यह भेद सब संसारी जीवों के भेदों में पाया जाता है। अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत सब जीव बादर होते हैं।

त्रस और स्थावर के भेद से भी संसारी जीवों के दो भेद होते हैं। त्रस नाम कर्म के उदय के वशवर्त्ती जीव त्रस, और स्थावर नाम कर्म के उदयाधीन एकेन्द्रिय जीव स्थावर होते हैं।

शंका—चलने फिरने वालों को त्रस और एक जगह स्थिर रहने वालों को स्थावर क्यों नहीं कहा ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं। क्योंकि स्थावरकायिक जल एवं वायु चलते हैं, किन्तु वे त्रस नहीं। और अंडे में रहने वाला जीव, माता के गर्भ में रहने वाला बालक, तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली चलते फिरते नहीं हैं तथापि उन्हें आगम में त्रस माना है। इसलिये उक्त लक्षण मानना ही युक्ति और आगम संगत है।

स्थावर जीव एकेन्द्रिय होते हैं। उनके पांच भेद हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। इन पांचों में से प्रत्येक के चार चार भेद आगम में बताये हैं। पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव। जल, जलकाय, जलकायिक, जलजीव। इसी प्रकार अग्नि आदि के भी चार-चार भेद समझ लेना चाहिए। इन चारों का स्वरूप नीचे दिखाया जाता है:—

तत्वार्थ सूत्र की श्रुतसागरीय टीका में पृथिवी आदि चार भेदों में से पहले भेद को साधारण भेद न बताकर पृथिवीकायिक जीव द्वारा तात्कालिक छोड़े गये शरीर को पृथिवी कहा है। तथा जिसे छोड़े बहुत काल बीत गया है ऐसे शरीर को पृथिवी काय कहा है। इसी प्रकार जलादि में भी समझ लेना चाहिए।

पृथिवी—स्वाभाविक अचेतन परिणाम युक्त कठोर गुण वाली पृथिवी होती है। यद्यपि इस प्रथम भेद में अचेतन होने के कारण पृथिवी नाम कर्म का उदय नहीं है, तो भी प्रथन क्रिया (मोटाई अथवा विस्तार) से युक्त है; इसलिये इसे पृथिवी कहते हैं। अथवा 'पृथिवी' यह सामान्य भेद है। आगे वाले पृथिवीकाय आदि तीन भेदों में पृथिवी सामान्य भेद पाया जाता है। जैसे मनुष्य भेद, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों भेदों में पाया जाता है।

पृथिवीकाय—पृथिवीकायिक जीव ने जिसे पहले अपना शरीर बना रखा था और अब जिसे छोड़ दिया है, उस छूटे हुए शरीर को पृथिवीकाय कहते हैं। जैसे खान के बाहर का पत्थर, मिट्टी आदि। पत्थर जब खान के अन्दर था तब उसमें पृथिवीकायिक जीव था, और जब उसे फोड़कर खान के बाहर निकाल दिया जाता है तब उसमें जीव नहीं रहता। ऐसी अवस्था वाले पत्थर, मिट्टी आदि को पृथिवीकाय कहते हैं।

पृथिवीकायिक—जिसने पृथिवी को अपना शरीर बना रखा है उस जीव को पृथिवीकायिक कहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य शरीर को धारण करने वाला जीव मनुष्यजीव कहलाता है, वैसे ही पृथिवी रूप शरीर को धारण करने वाला जीव पृथिवीकायिक कहलाता है। जैसे खान के भीतर का पत्थर तथा भूमि के अन्दर की मिट्टी आदि।

पृथिवी जीव—जिसके पृथिवी नाम कर्म का उदय है और जो कार्माण काययोग में स्थित है, जिसने अभी तक पृथिवी का शरीर धारण नहीं किया है, किन्तु अधिक से अधिक तीन समय के पश्चात् पृथिवी-शरीर को धारण करेगा, ऐसे विग्रहगति में स्थित जीव को पृथिवीजीव कहते हैं। जैसा कि कहा भी है :—

पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढविजीवो य।
साहारणोवमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥

इसका अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। इसी प्रकार जल, जलकाय, जलकायिक और जलजीव ये जल के चार भेद हैं।

जल सामान्य को जल कहा है। गर्म या भस्मादिक डाल कर प्रासुक किये हुए जल को जलकाय, तथा जल रूप शरीर को धारण किये हुए जीव को (कुआ, तालाब आदि के जल को) जलकायिक और विग्रहगति में अवस्थित—जिसने अभी तक जल को शरीर नहीं बनाया है किन्तु अधिक से अधिक तीन समय अनन्तर जलरूप शरीर को धारण करने वाला है उस जीव को जलजीव कहते हैं।

वायु सामान्य को वायु, पंखे आदि से विलोडित अचित्त वायु को वायुकाय, वायु शरीर को धारण किये हुए जीव को वायुकायिक, एवं एक, दो या तीन समय के पश्चात् वायु-शरीर को धारण करेगा, अभी जो विग्रह गति मे स्थित है, उस जीव को वायुजीव कहते हैं।

अग्नि सामान्य को अग्नि, बुझे हुए कोयले व भस्म को अग्निकाय, अग्निरूप शरीर को धारण करने वाले (दीपक की लौ, जलती अग्नि आदि) को अग्निकायिक, तथा एक, दो या तीन समय के अनन्तर अग्नि को शरीर बनाने वाले वर्त्तमान मे विग्रहगति में स्थित जीव को अग्निजीव कहते हैं।

वनस्पति सामान्य को वनस्पति; सूखे घास पत्ते काठ आदि वनस्पति कायिक जीव द्वारा छोड़े हुए शरीर को वनस्पति काय; जिसने वनस्पति को अपना शरीर बना रखा है ऐसे हरे पत्ते घास, कन्दमूल, हरे फल—आम, नींबू, अंगूर, तोरई भिंडी आदि हरित् पुष्पादि को वनस्पतिकायिक; और जो विग्रहगति में स्थित है, एक, दो या तीन समय के अनन्तर वनस्पति शरीर को ग्रहण करने वाला है उसे वनस्पति जीव कहते हैं।

इन चार भेदो' में आदि के दो भेद पृथिवी और पृथिवीकाय, जल और जलकाय आदि अजीव हैं और शेष दो दो भेद पृथिवी कायिक और पृथिवी जीव, जल कायिक और जल जीव आदि जीव रूप हैं। इन जीवों को भली भाँति जान कर इनकी हिंसा से बचना चाहिए।

प्रश्न—कुए, बावडी, तालाब आदि का जल दुहरे मोटे छनने से छान लेने पर प्रासुक (अचित्त) हो जाता है ऐसा सुना है तो उसे जलकाय कहना चाहिए। और उसका उपयोग करने वाले के जीव हिंसा का दोष नहीं लगना चाहिए?

उत्तर—छना जल अचित्त नहीं होता, छानने से उसमें रहने वाले मोटे त्रस जीव निकल जाते हैं; किन्तु जो जलकाय के जीव उस जल में हैं वे तो नहीं निकलते। जल प्रासुक करने की विधि से जो प्रासुक नहीं किया गया है, वह जल अप्रासुक (सचित्त) योनिभूत होने से जल

है। और उसका उपयोग करने वाला हिंसा के दोष से मुक्त नहीं हो सकता। गृहस्थ को भी स्नान, पान आदि समस्त कार्यों में छने हुए जल का ही उपयोग करना चाहिये, बिना छने जल की एक बूंद भी काम में नहीं लाना चाहिए, वह पापबन्ध का कारण माना गया है।

प्रासुक जल तो वही माना गया है जो छान कर एक मुहूर्त के भीतर ही लवंगादि द्रव्य डाल कर अथवा गर्म करके शुद्ध कर लिया जावे। केवल छना हुआ जल प्रासुक नहीं है—अप्रासुक है। चतुर्थ प्रतिमा तक के श्रावक ही छने जल का उपयोग कर सकते हैं। इससे आगे की प्रतिमा वाले गृहस्थ एवं मुनियों को प्रासुक जल का ही उपयोग करना चाहिए। लवंगादि द्रव्य डाल कर शुद्ध किया हुआ जल दो पहर तक प्रासुक रहता है। कुछ गर्म किया हुआ जल चार पहर तक और खूब गर्म किया हुआ आठ पहर अर्थात् एक रात दिन तक प्रासुक माना गया है। इसके बाद जल में सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रासुक किया हुआ जल उसकी मर्यादा तक ही पेय है, क्योंकि मर्यादा का उल्लंघन हो जाने पर ग्रहण करना आगम-विरुद्ध एवं पाप का कारण है। मुनि अथवा श्रावक कोई भी हो, उसे शास्त्रानुकूल ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। जल के प्रासुक करने की जो भिन्न-भिन्न क्रियायें बताई गई हैं, उनमें छानने की क्रिया नहीं है। अर्थात् छानने मात्र से प्रासुक मान लेना कहीं नहीं बताया गया। इसलिए सनातन आगमानुकूल प्रवृत्ति को छोड़ कर उत्पथगामी होना ठीक नहीं।

प्रश्न—यह तो मेरी समझ में अच्छी तरह आगया कि केवल छना जल प्रासुक नहीं है, किन्तु बहुत दिनों से मेरे मन में यह शंका बनी हुई है कि साधु लोग सम्पूर्ण जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं, वे खुले मुख बोलते हैं- तब मुँह से गर्म हवा निकलती है, उससे वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है या नहीं ?

उत्तर—आपका प्रश्न ठीक है, परन्तु इसमें बहुत विचारने की बात है। क्या वायुकाय के जीवों की हिंसा मुँह की हवा से होती है, मुँह बंद करने पर नहीं होती ? श्वास तो अवश्य लेना पड़ता है, यदि वह (श्वास) मुँह से नहीं लिया गया तो नाक से लेना पड़ेगा और श्वास द्वारा हवा अवश्य निकलेगी। इतना जरूर है कि मुँह के ऊपर कपड़ा बांध लेने से उस कपड़े पर बोलने से जो कफ के अंश निकलते हैं, वे बार बार लगते रहेंगे, और अन्तर्मुहूर्त में उस कपड़े में जीवों की उत्पत्ति अवश्य होगी। वस्त्र द्वारा मुँह ढके रहने में त्रस जीवों की हिंसा का दोष लगता है। इसलिये मुँह पर कपड़ा बांधना धर्म विरुद्ध है। मुँह और नाक से बिलकुल श्वास लेना बन्द करदें तो शायद पवन काय के जीवों की बाधा से बच सकते हैं। किन्तु यह सम्भव नहीं है।

प्रश्न—आगम में अग्निकायिक जीवों के भेदों में दीपक की लौ को गिनाया है। यदि ऐसा है, तो क्या मुनि इसका उपयोग कर सकता है ?

उत्तर—नहीं कर सकता—

ज्वालाङ्गारस्तथाऽर्चिश्च, मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अनलश्चापि ते तेजो जीवा रक्ष्यास्तथैव च ॥ (अन० धर्मा० टीका।)

अर्थ—ज्वाला, जलते हुए कोयले, दीपक की लौ, कंडे की अग्नि, वज्र, बिजली, सूर्यकान्तमणि इत्यादि से उत्पन्न हुई अग्नि, धुंए आदि सहित सामान्य अग्नि और 'च' शब्द से चिनगारी वडवानल आदि का ग्रहण किया गया है ये सब अग्निकायिक जीव हैं।

मुनि इनके आरंभ का मन, वचन, काय व कृत, कारित अनुमोदना से त्यागी होता है। उसका किसी भी प्रकार दीपक को छूना तो दूर रहा, कोई श्रावक उसके निमित्त दीपक जलावे तो वह उसका भी उपयोग नहीं कर सकता। अग्निकायिक के आरंभ से केवल एकेन्द्रिय जीवों की ही हिंसा नहीं होती, लेकिन इससे छहकाय के जीवों की हिंसा भी अवश्यंभावी है। इसलिये दीपक रखना और उसका उपयोग करना मुनिधर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

प्रश्न—क्या मुनि बिजली की रोशनी में पढ़ सकता एवं लाउडस्पीकर में भाषण दे सकता है ?

उत्तर—मुनि प्राणी मात्र का रक्षक है, वह किसी जीव को मन, वचन, काय से सन्ताप नहीं पहुँचाता, तब क्या वह अपनी ही काय द्वारा षट्काय के जीवों की विराधना करेगा ? बिजली की उत्पत्ति षट्काय के जीवों की हिंसा से होती है। बिजली स्वयं एकेन्द्रिय अग्नि कायिक जीव है। बिजली के लट्टू के नीचे असंख्य जीवों के कलेवर पड़े हुए दिखाई देते हैं। क्या इतनी भयंकर हिंसा का जिम्मेवार मुनि नहीं है ? जो मुनि इसका उपयोग करते हैं, वे बिजली की हेयता को नहीं समझते हैं, अथवा तीव्र कषाय के वशीभूत होकर छहकाय के जीवों की हिंसा सरीखे महा पाप में प्रवृत्त होते हैं। लाउड स्पीकर में भी बिजली का ही उपयोग होता है। अतः मुनि को इसका उपयोग भी कभी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—वृक्ष से टूटे हुए पत्ते फल-फूल आदि सचित्त हैं या अचित्त ? हमने सुना है कि ये अचित्त हैं अर्थात् उनमें वनस्पतिकायिक जीव नहीं होता है ?

उत्तर—आपने प्रश्न बहुत सुन्दर किया। इस समय जैन समाज में शास्त्र विरुद्ध उपदेश और आदेश दिया जा रहा है। हे भव्य ! जब तक हरितकाय पत्ते फल-फूल आदि अपने रस से सयुक्त हैं, सूखे नहीं अथवा उन्हें शास्त्र विधि से प्रासुक नहीं किया गया है, तब तक उनमें जीव है। शास्त्रकारों ने उन्हें सचित्त (जीव सहित) माना है। जो सचित्त त्यागी हैं अथवा जिन्होंने इनका त्याग कर दिया है, उन्हें पाप से बचने के लिए इनका भक्षण नहीं करना चाहिए। यही कहा है :—

सच्चित्तं पत्तफलं वल्लीमूलं च किसलयं बीजं ।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरओ हवे सो वि ॥३७९॥ (स्वामिकार्ति०)

संस्कृत टीका—सोऽपि प्रसिद्धः, अपिशब्दात् न केवलमग्रे तनः श्रावकः सचित्तविरतः सचित्तेभ्यः जलफलादिभ्यो विरतः विगतरागः निवृत्तः भवेत् यः ज्ञानी भेदविज्ञानविवेकगुणसम्पन्नः श्रावकः, न भक्षति न अश्नाति, किं तत् ? सचित्तं चित्तेन चैतन्येन आत्मना जीवेन सह वर्त्तमानं सचित्तं, किं तत् ? पत्रफलं सचित्तनागवल्लीदलनिंबपत्रसर्षपचणकादिपत्रधुत्तूरादिदलपत्रशाकादिकं नाश्नाति, फलं सचित्तचिर्भटकर्कटिकादिकूष्मांडनिंबूफल-दाडिमबीजपूरादिपक्वाम्रकदलीफलादिकं, वल्ली वृक्षवल्ल्यादि सचित्तां त्वक् नात्ति, मूलं आर्द्रकादि लिंबादिवृक्षवल्ली वनस्पतीनां मूलं न खादति, किशलयं पल्लवं लघुपल्लवं कोपल नात्ति, बीजं सचित्तं चणकमुद्गतिलवर्जरिकामाषाढकाजीरकवेरराजीगोधूमव्रीह्यादिकं न भक्षते !

अर्थ—चित्त नाम जीव का है जो जीव से युक्त है, उसे सचित्त कहते हैं। सचित्त त्यागी ताम्बूल (पान) नीम के पत्ते, सरसों, चने आदि के पत्ते, धतूरे आदि के पत्ते, मैथी आदि शाक के पत्ते सचित्त (जीव सहित) होने से नहीं खाता है। सचित्त कचरा ककड़ी आदि कोहरा

(काशीफल) नींबू अनार बीजपूर (बिजौरा) आदि तथा पक्का आम और पक्का केला इत्यादि फल जीव सहित हैं, इनका भक्षण नहीं करता है । अदरख आदि तथा नीम आदि वृक्षों की वेल और अन्य वृक्ष की वेल, गिलोय आदि तथा सचित्त छाल जीव सहित है, इसका भक्षण नहीं करता है । वनस्पति का मूल (जड़) का तथा कोंपल का और सचित्त (हरे) चने, मूंग, तिल, बाजरा, उड़द, अरहर, जीरा, गेहूँ, ज्वार, मक्का, जौ आदि बीज सहित होते हैं, इनका भी सचित्त त्यागी भक्षण नहीं करता है ।

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि हरे पत्तों, फलों, बीजों तथा कन्दमूल वृक्षादि की त्वचा और गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि बीजों में प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव विद्यमान हैं । जब तक इनमें आर्द्र पन रहता है, अर्थात् पत्ते, फल, बीज, कन्द मूल त्वचादि का रस पूरी तरह सूख नहीं जाता, अथवा अग्नि आदि संस्कार से इन्हें पूरी विधि से अचित्त नहीं कर लिया जाता, तब तक ये सचित्त रहते हैं । सचित्त त्यागी को अथवा जिसने हरी का त्याग किया है, उसको उक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए ।

सचित्त त्यागी व हरी का त्याग करने वाले में कुछ अन्तर है । और वह यह है कि सचित्त का त्यागी भक्ष्य फल पत्रादि के बने हुए अचित्त शाकादि का भक्षण कर सकता है, किन्तु हरी का त्यागी गृहस्थ त्यागी हुई बनस्पति का बना हुआ शाकादि नहीं खा सकता ।

त्रसकाय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन सबको त्रस कहते हैं । इन्द्रियाँ पांच हैं १ स्पर्शन—(सम्पूर्ण शरीर में रहने वाली इन्द्रिय–चमड़ी), २ रसना (जीभ), ३ घ्राण (नाक), ४ चक्षु (आँख) और ५ श्रोत्र (कान) । जिन जीवों के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं, वे पदार्थ को छूकर ही जान सकते हैं, जानने का उनके पास और कोई उपाय नहीं है । जो जीव छूकर तथा चखकर पदार्थ का ज्ञान करते हैं वे दो इन्द्रिय होते हैं । जैसे लट, केंचुआ, शंख, सीप इत्यादि । जिनके उक्त दो इन्द्रियों के साथ नासिका भी होती है उन्हें त्रीन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिऊंटी, मकोड़ा, खटमल, बिच्छू इत्यादि । जिनके उक्त तीन इन्द्रियों के साथ आँख अधिक होती है उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं, जैसे भौंरा, वर्र (ततैया) इत्यादि । जिनके उक्त चारों इन्द्रियों के साथ कान और अधिक होता है उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं, जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी इत्यादि ।

तात्पर्य यह है कि उक्त जीवों के स्वरूप व भेदों को जान कर इनकी रक्षा करने में सावधान रहना चाहिए ।

प्राणों का वर्णन.

जिनके द्वारा जीव जीता था, जीता है, और जीवेगा उन्हें प्राण कहते हैं । ये प्राण दो प्रकार के हैं :—द्रव्यप्राण और भावप्राण अथवा बाह्य और आभ्यन्तर प्राण । सो ही कहा है—

> बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भन्तरेहिं पाणेहिं ।
> पाणंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ॥ १२८ ॥ (गो० जीवकाड)

अर्थात्—जैसे पुद्गल रूप द्रव्य इन्द्रियादि से जीव जीवित रहता है वैसे ही द्रव्य इन्द्रिय के कारण भूत वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशमादि से उत्पन्न चेतना रूप आभ्यन्तर प्राण से भी जीव जीता है ।

आशय यह है कि चेतना (उपयोग) रूप भाव प्राण या आभ्यन्तर प्राण हैं और पुद्गलजन्य इन्द्रियादि द्रव्य प्राण हैं। प्राण दश प्रकार के हैं :—

पंचवि इंदियपाणा मणवचकायेसु तिण्णि वलपाणा।
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥ १२६ ॥ (गो० जीवकाण्ड)

अर्थात् पांच इन्द्रियाँ, तीन वल—मनोवल, वचन बल और काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण हैं।

एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण होते हैं :—१ स्पर्शन इन्द्रिय, २ कायवल, ३ आयु और ४ श्वासोच्छ्वास। द्वीन्द्रिय के ६ प्राण होते हैं—ऊपर कहे गये चार, रसना इन्द्रिय और वचनवलप्राण अधिक होते हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीव के प्राण इन्द्रिय अधिक होने से ७ प्राण होते हैं। इसी प्रकार चौइन्द्रिय जीव के एक चक्षु इन्द्रिय वढ़ जाने से ८ प्राण होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्रेन्द्रिय अधिक होने से ९ प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रिय के एक मनोवल के ज्यादा हो जाने से १० प्राण माने गये हैं। उक्त प्राण पर्याप्त अवस्था की अपेक्षा से वतलाये गये हैं।

अपर्याप्त अवस्था में वचनवल, मनोवल और श्वासोच्छ्वास नहीं होते हैं। ये पर्याप्त जीव के ही पाये जाते हैं। इसलिये अपर्याप्त एकेन्द्रिय के ३ प्राण (इन्द्रिय, कायवल और आयु) अपर्याप्त दो इन्द्रिय के एक इन्द्रिय अधिक होने से चार प्राण, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त के एक इन्द्रिय वढ़ जाने से ५ प्राण, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त के एक इन्द्रिय की वृद्धि होने से ६ प्राण, संज्ञी तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय के सात प्राण होते हैं।

चेतना रूप भाव सम्पूर्ण जीवों के हर समय पाया जाता है।

इन्द्रिय-वर्णन

इन्द्रिय—इन्द्र (आत्मा) सूक्ष्म है, उसे प्रकट करने वाले चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र नाम नामकर्म का है, उससे जो रची गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। चेतन अथवा अचेतन (पुद्गल) द्रव्य से निर्मित इन्द्रिय को द्रव्येन्द्रिय और चेतन के परिणाम रूप इन्द्रिय को भावेन्द्रिय कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति के दो भेद हैं—अभ्यन्तर निर्वृत्ति और वाह्य निर्वृत्ति। नाम कर्म के उदय से उत्सेधाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मा के प्रदेशों का नियत स्थान पर चक्षु आदि इन्द्रियाकार रूप अवस्थित होना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है। तथा उन्हीं इन्द्रियों के आकार रूप परिणत हुए आत्मप्रदेशों पर नाम कर्म के उदय से पुद्गलों की चक्षु आदि इन्द्रियाकार रूप रचना होना वाह्य निर्वृत्ति है। चक्षु की मसूर के आकार रूप, श्रोत्र की यव नाली के आकार रूप, घ्राण की तिल-पुष्प समान, रसना की खुरपे के आकार अथवा अर्ध चंद्र समान रचना है। स्पर्शनेन्द्रिय की रचना अनेक प्रकार की है।

निर्वृत्ति का उपकार करने वाले अवयव को उपकरण कहते हैं। जैसे—आँख में मसूर के समान आकार वाले भाग के चारों ओर कृष्ण (काला) शुक्ल (सफेद) गोलाकार भाग है। इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय के भीतर यवकी नाली के समान आकार वाले भाग को छोड़कर शेष ऊपर का भाग उपकरणेन्द्रिय है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों में भी समझ लेना चाहिए।

चक्षु इन्द्रिय सब से छोटी है, उसकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इससे असंख्यात गुणी श्रोत्रेन्द्रिय की अवगाहना है। श्रोत्रेन्द्रिय की अवगाहना से घ्राणेन्द्रिय की अवगाहना पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र अधिक है। इससे पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित रसनाइन्द्रिय की आवगाहना है। किन्तु सामान्य रूप से सर्व इन्द्रियों की अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मात्र ही है।

स्पर्शनेन्द्रिय की अवगाहना अनेक प्रकार की है; क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और जीवों के शरीर अनेक प्रकार के हैं इसलिये स्पर्शन इन्द्रिय भी अनेक प्रकार की है। इसकी सब से छोटी अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग मात्र है। और वह अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के तीसरे समय में होती है। उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्य के होती है, इसकी अवगाहना संख्यात घनाङ्गुल प्रमाण है।

लब्धि और उपयोग ये दो भाव-इन्द्रिय हैं। जिस ज्ञानवरण के क्षयोपशम से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापार करता है, उस ज्ञानावरण के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं। और उसके निमित्त से आत्मा को जो पदार्थ का ज्ञान होता है उसे उपयोग कहते हैं।

इन्द्रियाँ ५ होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र। एकेन्द्रिय जीवों के पहली स्पर्शन इन्द्रिय होती है। इसके द्वारा १ हलका, २ भारी, ३ रूखा, ४ चिकना, ५ कोमल, ६ कठोर ७ शीत और ८ उष्ण इन आठ स्पर्शों का ज्ञान होता है। एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं। उनके पाँच भेद हैं:—

१ पृथिवी कायिक—जिनके पृथ्वी ही शरीर हो। पृथ्वी के ३६ भेद हैं:—

१ पृथ्वी (साधारण मिट्टी) २ बालिका (रूखे अंगारे की राख) ३ शर्करा—(कठोर मिट्टी त्रिकोण चौकोण आदि आकारवाली) ४ उपल (गोल छोटे पत्थर) ५ शिला (बड़ा पत्थर) ६ लवण (सैंधा नमक) ७ लोह ८ ताम्बा ९ त्रपुप(कतीर, रांगा) १० सीसा ११ चांदी १२ सोना १३ हरताल १४ हींगलू १५ मैनसिल १६ हीरा १७ सस्यक (हरे रंग वाला तूता) १८ अंजन (सुरमा) १९ मूंगा २० जीरोलक (भोडल जैसी चमक की मिट्टी) २१ अभ्रक (भोडल के पत्र) २२ गोमेद (गोरोचन के से रंग वाली फर्कतन मणि) २३ रुजक (अलसी के फूल के से रंग वाला राज वर्त्तक) २४ स्फटिक २५ अंक (मूंगे के से रंग वाला पुलक रत्न २६ पद्मराग (माणिक रत्न) २७ वैडूर्य (मयूर के कंठ समान रंग वाला नीलम रत्न) २८ चंद्रकान्त मणि (चन्द्रमा की सी प्रभावली या चन्द्रमा के प्रकाश से पानी झरने वाली मणि) २९ सूर्यकान्त मणि (सूर्य की सी प्रभावली या सूर्य की किरणों के संसर्ग से अग्नि पैदा करने वाली मणि)३० जल कान्त (जल जैसे रंग वाली मणि) ३१ गैरिक(सोना गेरू जैसे रंग वाला रुधिराक्ष रत्न) ३२ चंदन (चंदन जैसे वर्ण और गंधका धारक रत्न) ३३ वप्पक या वचूंर (बिलाव के नेत्र समान रंग वाला लहसनिया नामक रत्न) ३४ बक (पुखराज रत्न) ३५ मोच (केले के समान हरे रंग वाला मरकत—पन्ना नामक रत्न) ३६ मसार गल्व (मूंगे के से रंग वाला मसृण पाषाण मणि)।

इनमें शर्करा, उपल, शिला, वज्र और प्रवाल—इनके अतिरिक्त और सब शुद्ध पृथ्वी के विकार हैं। बाकी सब खर पृथिवी के विकार हैं। इनमें ही आठ प्रकार की पृथ्वियाँ, सुमेरु आदि पर्वतों की शिलाएँ, द्वीप, विमान और भवनवासी आदि देवों के भवन, वेदिका, प्रतिमा (अकृत्रिम), तोरण, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मलिवृक्ष, धातकीवृक्ष और रत्नाकर (?) वगैरह का भी अन्तर्भाव होता है।

जलकायिक जीव—वे कहलाते हैं, जिनका जल ही शरीर हो।

अवश्यायो हिमं चैव मिहिका विन्दुशीकराः।
शुद्धं घनोदकं चाम्बुजीवा रक्ष्यास्तथैव ते ॥ (अन० अ० ४ टी० श्लो० २२)

उक्त श्लोक के अनुसार इनके निम्न भेद हैं।

१ अवश्याय (ओस) २ मिहिका (कुहरा) ३ विन्दु (जल की मोटी बूंद) ४ शीकर (फुव्वारे-छोटी छोटी महीन बूंदे) ५ शुद्ध (चन्द्रकान्त मणि से निकला जल, आकाश से गिरा तत्काल का जल) ६ घनोदक (समुद्र का, झील का, घनवातादिक से उत्पन्न जल) इनके सिवाय बावड़ी झरना आदि का जल और करक (ओला) ये सब जलकायिक जीवों के भेद हैं। इन सब जीवों की रक्षा करनी चाहिए।

३ तेजस्कायिक जीव वे हैं जिनका अग्नि ही शरीर हो। अग्नि के कई भेद हैं। जैसे ज्वाला—(अग्नि की ऊंची उठी हुई लपटें) अङ्गार (जलते हुए कोयले) अर्चि (दीपक की लौ) मुर्मुर—(कंडे की अग्नि) शुद्ध (बिजली आदि से पैदा हुई व उसी समय सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुई अग्नि), इनके अतिरिक्त स्फुलिंग (चिनगारी) वाडव (समुद्र से उत्पन्न), नंदीश्वर—धूमकुंड, अग्निकुमार देवों के मुकुट से उत्पन्न आदि। इन सब में अग्निकायिक जीव हैं।

४ वायुकायिक जीवों के भेद ये हैं—वात (सामान्य वायु) उद्भ्रम—(चक्कर खाकर ऊपर जाने वाला पवन), उत्कलि—(लहरों वाला वायु), मण्डलि (पृथिवी से लगी हुई घूमती हुई चलने वाली वायु), महान (वृक्षादि को उखाड़ देने वाला पवन—आंधी), घनोदधिरूप घनवात, पंखे आदि से उत्पन्न पतली हवा तनुवात, इनके सिवाय पेट में रहने वाला उदान, अपान आदि पाँच प्रकार का वायु (जिसे गुजा कहते हैं) तथा विमानों की आधारभूत वायु, ये सब वायुकायिक जीव हैं।

५ वनस्पतिकायिक जीव वे कहलाते हैं जिनका वनस्पति ही शरीर हो। जैसे—वृक्ष, लता (बेल), पौधा, तृण (घास) आदि रूप हरित वनस्पति। इनके सिवाय शैवाल (सिंवास या काई), पणक (गीली ईंट पर जमी हुई काई), किण्व (बरसात में होने वाले छत्ते), कवक (सींगों के खड्डों में पैदा हुए जटा के से आकार), कुहण (भोजन तथा काँजी आदि पर आई हुई फूलन) आदि भी वनस्पति ही हैं।

वनस्पति के दो भेद हैं :—प्रत्येक और साधारण।

एकमेकस्य यस्याङ्गं प्रत्येकाङ्गः स कथ्यते।
साधारणः स यस्याङ्गमपरैर्बहुभिः समम् ॥ (अन० धर्मा० टीका श्लोक २२)

प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकार की है—अप्रतिष्ठित प्रत्येक और सप्रतिष्ठित प्रत्येक।

१ अप्रतिष्ठित प्रत्येक—वह है जिसमें साधारण जीवों की उत्पत्ति नहीं हो। और जिन में साधारण जीवों की उत्पत्ति हो वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक है। सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद निम्न प्रकार हैं।

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ १८५ ॥ (गोम्मट सार जीवकांड)

अर्थ—जिन वनस्पतियों का मूल, अग्रभाग, पर्व (पौरें) और स्कंध, बीज होता है अथवा जो बीज से उत्पन्न होती हैं और जो सम्मूर्च्छन हैं वे सब वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं। जैसे मूलबीज हल्दी, अदरख आदि। ये मूल (जड़) बोने से उत्पन्न होती हैं। अग्रबीज–गुलाब, चमेली, मोगरा आदि। ये अग्रभाग से पैदा होती हैं। पर्व बीज–ईख–सांठा, बेंत आदि। ये पौरें काट कर बोने से उत्पन्न होती हैं। कन्द से उत्पन्न होने वाले सूरण, कदली आदि। स्कंध से पैदा होने वाले–ढ़ाक, शल्लकी आदि। बीज से पैदा होने वाले–जौ, गेहूँ, मक्का, ज्वार आदि। सम्मूर्च्छन—जो बिना बीज बोये मिट्टी, जलादि के संयोग से उत्पन्न होते हैं। जैसे घास, दूब आदि।

सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित–प्रत्येक की पहचान के लिये कहा है:—

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥१९॥ (मूलाचार मूल गुणा०)

अर्थ—जिस फल आदि वनस्पति की सिरा, संधि, और पर्व प्रकट नहीं हुई हों और जिसको तोड़ने पर सम–भंग होता हो तथा तोड़ने पर जिसमें तन्तु न लगा रहे, छेदन करने पर भी बढ़ती रहे वह सब सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। इससे विपरीत को अप्रतिष्ठित प्रत्येक समझना चाहिये।

इसका आशय यह है कि ककड़ी, खरबूजा, तरोई, हरे गेहूँ, चने आदि के दानों तथा मेथी पालक आदि के पत्तों में यथा संभव उक्त लक्षण पाया जावे तो उन्हें सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीव समझ कर सेवन न करना चाहिये। क्योंकि इनका सेवन करने से अनन्त जीवों की विराधना होती है। इन वनस्पतियों में जब रेखा आदि प्रकट हो जाती हैं तब वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाती हैं। साधारण जीव वे हैं जो एक शरीर में अनन्त स्वामी बन कर रहते हैं। जिनका एक साथ समान आहार, समान श्वासोच्छ्वास, समान आयु, समान जन्म और समान मरण होता है।

दो और दो से अधिक इन्द्रियों के धारक जीव त्रस हैं। जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ हों, ऐसे जौंक, सीप, शंख, कौड़ी, लट, गिंडोला, केंचुआ, उदर के कृमि (चिनूना) आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हों जैसे कुंथवा, चींटी, जू, खटमल, बिच्छू, मकोड़ा आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ हों वे पतंग, मच्छर, डांस, मक्खी, भौंरा, ततइया आदि चौइन्द्रिय जीव हैं।

जिनके उपर्युक्त चार इन्द्रियों से अधिक श्रोत्र इन्द्रिय हो वे पंचेन्द्रिय जीव हैं। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—संज्ञी (सैनी), असंज्ञी (असैनी) मन सहित संज्ञी और मन रहित असंज्ञी होते हैं। संज्ञी जीव मन के द्वारा दूसरे की दी हुई शिक्षा को ग्रहण कर सकते हैं, शरीर के द्वारा दूसरे की-सी क्रिया कर सकते हैं और वचन के द्वारा जैसा बुलाओ वैसा बोल सकते हैं। असंज्ञी जीवों में मन नहीं होने से यह शक्ति नहीं होती है। एकेन्द्रिय से लगा कर चौ इन्द्रिय तक के सभी जीव असंज्ञी सम्मूर्छन ही होते हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों में असंज्ञी तिर्यञ्च ही होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव चार भेदों में विभक्त हैं—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

१ नारक - सात पृथिवियों के भेद से सात प्रकार के हैं।

२ तिर्यंच—कर्मभूमिज और भोगभूमिज के भेदसे दो प्रकार के हैं।

कर्मभूमिज तिर्यंच तीन प्रकार के हैं—जलचर, स्थलचर, नभचर। ये तीनों ही भेद वाले तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी दोनों ही प्रकार के होते हैं। तथा ये छहों प्रकार के तिर्यंच गर्भज और सम्मूर्च्छन होते हैं।

भोगभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में दो भेद ही होते हैं—स्थलचर तथा नभचर। इनमें जलचर तिर्यंच नहीं होते।

मनुष्य दो प्रकार के हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। कर्मभूमिज मनुष्य दो प्रकार के हैं:—आर्य और म्लेच्छ। आर्य दो प्रकार के हैं—ऋद्धि प्राप्त और अनृद्धि प्राप्त। जिनको ऋद्धि प्राप्त नहीं है वे आर्य पांच प्रकार के हैं—क्षेत्रार्य, जाति-आर्य, कर्म-आर्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। जो आर्य क्षेत्र में रहने वाले हैं वे क्षेत्रार्य कहलाते हैं। जैसे कौशल-आदि देशों में उत्पन्न हुए आर्य। इक्ष्वाकु आदि वंश में उत्पन्न हुए जात्यार्य कहे जाते हैं। जो अल्प सावद्य कर्म करने वाले हैं वे कर्मार्य कहलाते हैं। जो सम्यक् चारित्र धारण किये हुए हैं वे चारित्रार्य माने गये हैं और जो सम्यग्दर्शन संयुक्त हैं वे दर्शनार्य हैं।

ऋद्धि प्राप्त आर्यों के सात भेद हैं—बुद्धिऋद्धिधारक, विक्रियाऋद्धिधारक, तपऋद्धिधारक, बलऋद्धिधारक, औषधऋद्धिधारक, रस ऋद्धिधारक, और अक्षीणमहानसऋद्धिधारक। भोगभूमिज मनुष्य के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्तम। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों के निवासी जघन्य, हरिवर्ष और रम्यक के मध्यम तथा देवकुरु और उत्तरकुरु के उत्तम होते हैं।

म्लेच्छों के दो भेद हैं—अन्तर्द्वीप मे उत्पन्न और कर्मभूमि में उत्पन्न। अन्तर्द्वीप में ये हैं—लवण समुद्र के अभ्यन्तर भाग में आठों दिशाओं में आठ और इन आठों के अन्तराल (बीच) में आठ। हिमवान्, शिखरी और दोनों विजयार्द्ध पर्वतों के दोनों किनारों पर एक एक होने से आठ। इस प्रकार सब मिलाकर २४ द्वीप हुए।

उनमें से दिशाओं के, विदिशाओं के तथा मध्य के द्वीप लवण समुद्र की वेदिका से पांचसौ योजन की दूरी पर हैं। पर्वतों के किनारों पर के द्वीप वेदिका से छहसौ योजन दूर हैं, दिशाओं के द्वीपों का विस्तार सौ योजन तथा विदिशाओं और अन्तराल के द्वीपों का विस्तार ५० योजन, और पर्वत के अन्तभाग में रहने वाले द्वीपों का विस्तार २५ योजन माना गया है।

पूर्व दिशा के द्वीपों में रहने वाले मनुष्य एक टांग वाले, पश्चिम दिशामें रहने वाले पूंछ वाले, उत्तर दिशावर्ती गूंगे, तथा दक्षिण दिशा वाले सींगवाले होते हैं। चारों विदिशाओं में निवास करने वाले क्रम से शश (खरगोश) के समान कान वाले, शष्कुली (पूड़ी) के समान कान वाले, प्रावरण (जिनको ओढ़ा जा सके ऐसे) कान वाले तथा लम्बे कान वाले होते हैं। इनके अन्तराल (बीच) के द्वीपों में रहने वाले आठ क्रम से अश्व, सिंह, कुत्ता, भैंसा, सूअर, व्याघ्र (बाघ) कौआ तथा बन्दर के समान मुंह वाले कहे गये हैं। शिखरी पर्वत के तटवर्ती द्वीप-निवासी मेघ समान तथा बिजली के समान मुंह वाले, हिमवान के दोनों तटों पर रहने वाले मत्स्य (मच्छली) समान मुंह वाले, तथा काले मुंह वाले, उत्तर विजयार्द्ध के उभय तटवर्ती हाथी समान मुंह वाले तथा दर्पण समान मुंह वाले और दक्षिण विजयार्द्ध के उभय तटवर्ती गौ समान मुंह वाले तथा मेढ़े के समान मुंह वाले माने गये हैं। उनमें से एक टांग वाले हैं वे मिट्टी खाते और गुफाओं में रहते हैं। शेष सब पुष्प-फल का आहार करने वाले हैं। और वृक्षों पर निवास करते हैं। उक्त सब म्लेच्छों की आयु एक पल्य की मानी गई है। उक्त २४ द्वीप समुद्र के जल से एक योजन ऊँचे पर हैं।

जिस प्रकार ये २४ द्वीप लवण समुद्र के अन्दर हैं वैसे ही २४ द्वीप लवण समुद्र के बाह्य भाग में भी समझने चाहिये। लवण समुद्र के समान कालोदधि में भी ४८ द्वीप माने गये हैं। इस प्रकार कुल ९६ द्वीप हुए। इन सब में निवास करने वाले सब म्लेच्छ होते हैं। इन द्वीपों को कुभोग-भूमि कहते हैं।

शक, यवन, शवर, पुलिन्द आदि म्लेच्छ कर्मभूमिज म्लेच्छ कहलाते हैं।

पर्याप्तियों का वर्णन

आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। इनका स्वरूप नीचे दिये जाता है :—

(१) आहार पर्याप्ति—पूर्व शरीर को छोड़कर नवीन शरीर के लिये कारणभूत जिस नो कर्मवर्गणा को जीव ग्रहण करता है, उसको खल भाग और रसभागरूप परिणमन कराने वाली जीव की शक्ति के पूर्ण होने को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

(२) शरीर पर्याप्ति—आहार पर्याप्ति के द्वारा जो खल भाग तथा रस भाग बनता है, उसमें से तिलों की खल के समान जो कठोरता का धारक खल भाग है उसको हड्डी आदि शरीर के अवयव रूप और तेल के समान पतले रस भाग को रस, रुधिर, वसा—चर्बी, वीर्य आदि पतले अवयव रूप परिणमन कराने की शक्ति के पूर्ण होने को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

(३) इन्द्रिय पर्याप्ति—उस खल रस भाग रूप नो कर्म वर्गणा में से इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को अपने-अपने योग्य स्थान में चक्षु आदि इन्द्रिय रूप परिणमन कराने वाली शक्ति की पूर्त्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

(४) आनपान पर्याप्ति—उसी खल—रसभागरूप नो कर्म वर्गणा में से श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वासरूप परिणमन कराने वाली शक्ति की पूर्णता को आनपान पर्याप्ति कहते हैं।

(५) भाषा पर्याप्ति—भाषावर्गणा के स्कंधों से भाषा रूप परिणमन कराने वाली शक्ति की पूर्णता को भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

(६) मन पर्याप्ति—उक्त नो कर्म वर्गणा में से जो मनोवर्गणा है उसके पुद्गलों को द्रव्य मन रूप परिणमन कराने वाली जीव की शक्ति के पूर्ण होने को मनः पर्याप्ति कहते हैं।

इन छहों पर्याप्तियों का प्रारंभ तो एक साथ होता है, किन्तु समाप्ति (पूर्णता) क्रम से होती है। इनका काल यद्यपि उत्तरोत्तर अधिक है, तथापि सब का काल सामान्य से अन्तर्मुहूर्त्त है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त्त के असंख्यात भेद माने गये हैं। एक आवली काल पर एक समय अधिक होते ही जघन्य से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का प्रारंभ होजाता है। और ४८ मिनट में एक समय कम रहने पर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की समाप्ति होती है। दोनों के बीच में असंख्यात भेद मध्यम अन्तर्मुहूर्त्त के हैं। यहाँ पर जो प्रत्येक पर्याप्ति की पूर्णता में एक एक अन्तर्मुहूर्त्त का काल बतलाया गया है वह मध्यम अन्तर्मुहूर्त्तों में से है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की अपेक्षा से तो छहों पर्याप्तियाँ एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही पूर्ण हो जाती हैं।

उक्त छहों पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीव के भाषा और मन के विना चार, दोइन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत मन के विना पांच और संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

जीव दो प्रकार के हैं (१) पर्याप्त (२) अपर्याप्त।

(१) पर्याप्त—पर्याप्त नाम कर्म के उदय से जिन जीवों के शरीर पर्याप्ति की पूर्णता हो गई हो उन्हें पर्याप्त कहते हैं।

(२) अपर्याप्त के दो भेद हैं—निर्वृत्ति अपर्याप्त (२) लब्धि अपर्याप्त। जब तक किसी जीव की शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हुई हो लेकिन नियम से पूर्ण होने वाली हो, तब तक उसे निर्वृत्ति अपर्याप्त कहते हैं।

लब्धि अपर्याप्त—अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जो जीव छहों पर्याप्तियों में से किसी एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सके और एक श्वास के अठारहवें भाग में ही मर जावे अर्थात् विग्रहगति में से आकर आहार वर्गणा का स्पर्श करते ही जिसका मरण हो जाता है उसे लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं।

पूर्व शरीर को छोड़ कर उत्तर शरीर को धारण करने के लिये गमन करते हुए जीव के विग्रहगति में कोई भी पर्याप्ति नहीं होती है। अतः वे अपर्याप्त कहलाते हैं।

आहारवर्गणा के आये हुए परमाणुओं को शरीर के अवयवों, द्रव्येन्द्रियों और उच्छ्वास निश्वासरूप, भाषा वर्गणा के आये हुए पुद्गल स्कंधों को भाषारूप, तथा मनोवर्गणा के आये हुए पुद्गल स्कंधों को द्रव्यमनोरूप परिणमन कराने वाली शक्ति की जो पूर्णता है वह पर्याप्ति कहलाती है।

प्रमाद—कथन

विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा - तहेव पणओ य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ॥३४॥ (गोम्मट० जीवकांड)

चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय—इस प्रकार प्रमाद के १५ भेद हैं। इनमें कषायों का स्वरूप तो पहले दिखलाया जा चुका है। शेष का स्वरूप कहते हैं।

४ विकथा—स्त्री-कथा, भक्त-कथा, राष्ट्र-कथा, राज्य-कथा।

(१) स्त्री-कथा—स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाली रागोत्पादक कथायें कहना व सुनना या इसी तरह की बातें करना एवं पुस्तकें पढ़ना।

(२) भक्त कथा—हमारे आज अमुक भोजन या व्यंजन बना था वह बड़ा अच्छा था। तुमने क्या बनाया था? कैसा बना? मुझे अमुक खाद्य वस्तु अच्छी लगती है, अमुक अच्छी नहीं लगती। इत्यादि रूप से रागाधीन होकर भोजन सम्बन्धी बातों का स्वयं कहना तथा सुनना।

(३) राष्ट्र कथा—अमुक देश, नगर, ग्राम आदि बड़े सुन्दर हैं। वहाँ के पहाड़, नदी, नाले, झील आदि दर्शनीय हैं। कभी वहाँ से हटने को जी नहीं चाहता। वहाँ के रहने वाले बहुत सुखी हैं इत्यादि राग-भाव से देश-विदेशों की कथायें कहना व सुनना।

(४) राज-कथा—निष्प्रयोजन या राग भाव से प्रेरित होकर अपने देश व अन्य देश के राजा, महाराजा, सम्राट् आदि के वैभव, रहन-सहन, भोग-विलास आदि की प्रशंसा व निन्दा करना या सुनना।

उक्त चारों विकथाओं से आत्मा का किसी भी प्रकार कल्याण नहीं होता। अपितु बिना प्रयोजन ही चित्त में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। इन विकथाओं में लग कर के मनुष्य अपने अमूल्य समय को जिन-भक्ति, जाप, स्वाध्याय, ध्यान, सामायिक आदि अच्छे कार्यों में न लगा कर उसका दुरुपयोग करता है। इसलिये ये चारों विकथायें प्रमादजनक होने से प्रमाद के भेदों में गिनाई गई हैं।

यदि यहाँ पर यह प्रश्न किया जावे कि प्रथमानुयोग में प्रायः ऐसी ही कथाएँ हैं। उसमें स्त्रियों के शरीरों की भी नाना प्रकार से सुन्दरता दिखलाई गई है। युद्धों का भी वर्णन है। राजाओं के भोग-विलास का भी कथन है, जो उक्त परिभाषाओं के अनुसार विकथा सिद्ध होता है। अतः ऐसे शास्त्रों का पढ़ना तथा सुनना विकथा में गर्भित क्यों नहीं किया गया?

इसका उत्तर यह है कि जिनका चित्त गंभीर धर्मशास्त्रों के पढ़ने-सुनने में नहीं लगता, अथवा जो यह नहीं समझते कि पुण्य करने से कैसे-कैसे सुखों की प्राप्ति होती है और पाप करने से कैसे-कैसे दुःख मिलते हैं? उनको बतासा में कड़वी दवा खिलाने की तरह मनोरंजन पूर्वक सुगमता से धर्म का स्वरूप समझाने एवं पुण्य करने तथा पाप से बचने का उपदेश देने के लिये प्रथमानुयोग के शास्त्रों की रचना की गई है और करणानुयोग में पाप के फल स्वरूप दुःखों के भोगने के लिये नरकादि स्थानों तथा पुण्य के फल स्वरूप सुखों को भोगने के लिये स्वर्गादि स्थानों का वर्णन किया गया है। अतः उनका स्वाध्याय करने व सुनने से संसार के दुःखों से भय उत्पन्न होता है और उनसे बचने के लिये पाप कर्म न करने की तथा सुखदायक पुण्य कर्म करने की बुद्धि उत्पन्न होती है। "और साथ ही साथ सांसारिक सुख विनश्वर (क्षणमात्र में नष्ट होने वाले) एवं आत्मा के कर्मबन्ध के कारण हैं।" ऐसा उपदेश भी मिलता है। और ऐसा उपदेश मिलने से पुण्य-पाप रूप आस्रव के कारण शुभ और अशुभ उपयोग को बुरा समझने एवं संवर और निर्जरा के कारण भूत पुण्य-पाप की प्रवृत्ति रहित शुद्धोपयोग में रमण करने की रुचि भी उत्पन्न होती है। अतः ऐसे उद्देश्य से प्रथमानुयोग व करणानुयोग के पढ़ने से राग-द्वेषादि की उत्पत्ति न होने के कारण उनका पढ़ना, सुनना विकथा में गर्भित नहीं किया है। यही सागार धर्मामृत की टीका में कहा है :—

"यदा तु रागद्वेषावनास्कन्दन् धर्मकथाङ्गत्वेन अर्थकामकथाः कथयति, तदा न वैकथिकः स्यात् ।" अर्थात्–जब शास्त्रवक्ता निरपेक्ष होकर धर्म सम्बन्धी व उसमें रोचकता उत्पन्न करने के लिये अर्थ व काम सम्बन्धी कथा कहता है, तब उसे विकथा का दोष नहीं लगता।

निद्रा—जीव के सोने (नींद लेने) को निद्रा कहते हैं। इससे परिश्रमजनित खेद (थकावट) मिटती है एवं खाये हुए अन्न का पाचन होता है। यह दर्शनावरण कर्म के उदय से आती है। इसके पाँच भेद हैं :—

(१) निद्रा—थकावट आदि दूर करने के लिये साधारण नींद लेना।
(२) निद्रानिद्रा—बार-बार नींद का आना अथवा गाढ़ निद्रा का आना, जिसमें जीव पलक भी न उघाड़ सके।
(३) प्रचला—बैठे बैठे ही नींद आ जाना। नींद से आंखें घुली रहना। आधी आँखें खुली रहना आधी मिंच जाना।
(४) प्रचला-प्रचला—बार बार ऊँघ आना, निद्रावस्था में मुँह से लार बहना आदि।
(५) स्त्यानगृद्धि—जिस नींद में मनुष्य उठ कर मारने-पीटने आदि रूप रौद्रकर्म व अन्य बहुत से काम कर दे और जागने पर उसको यह मालूम न हो कि मैंने क्या किया ?

परन्तु यहाँ पर १५ प्रमादों में केवल निद्रा सामान्य का ही ग्रहण किया गया है। विशेष भेदों का ग्रहण नहीं किया गया है। जहाँ पर प्रमाद के उत्तर भेद गिनाये गये हैं वहाँ पर पाँचों निद्राओं का ग्रहण किया गया है। अथवा छठे (प्रमत्त) स्थान के वर्णन में यह गाथा कही गई है। और छठे गुणस्थान वाले के एक ही निद्रा होती है। मुनियों के प्रमाद की उत्पत्ति कब होती है इसके लिये कहा है :—

संज्वलननोकषायाणां यःस्यात्तीव्रोदयो यतेः ।
प्रमादः सोऽस्त्यनुत्साहो धर्मे शुद्धयष्टके तथा ॥ (अन० धर्मा० टीका अ० ४ श्लोक ३७)

मुनि के सज्वलन कषायों और नोकषायों के तीव्र उदय से धर्म और आठ शुद्धियों में (भाव-काय-विनय-ईर्यापथ-भिक्षा-प्रतिष्ठापन-शयन-आसन-वाक्यशुद्धियों मे) उत्साह का न होना प्रमाद कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संज्वलन कषायों के उदय मे निद्रा ही आती है। निद्रा-निद्रा आदि नहीं आतीं। अतएव अन्य भेदों के देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

प्रणय—इस शब्द का गोम्मटसार में स्नेह अर्थ लिया गया है। प्रणय शब्द की व्याख्या यह की गई है—"प्रणयः जीवपरिमोहश्च तीव्रहास्यादिनोकषायोदयजनितात्मसंक्लेशपरिणामः" अर्थात् हास्यादि नो कषायों के तीव्र उदय से उत्पन्न हुआ जो आत्मा का सक्लेश रूप परिणाम है, उसे प्रणय अथवा मोह कहते हैं।

सागार धर्मामृत की टीका मे "प्रणयो (मोहः) स्नेहानुबंधात ममायं इति ग्रह" इससे प्रणय का अर्थ मोह करके उससे स्नेह (राग) के सम्बन्ध से पर-पदार्थ मे यह मेरा है ऐसी ममत्वबुद्धि (मूर्च्छा) का ग्रहण किया गया है। उक्त दो प्रकार की प्रणय शब्द की व्याख्या मे से दूसरी व्याख्या के अनुसार प्रणय शब्द से नो कषायों का ही ग्रहण करना उचित जँचता है। क्योंकि कषाय शब्द से चारो कषायों का ही ग्रहण होता है। अब शेष नो कषायें ही बच जाती हैं और उनका प्रमादों में होना आवश्यक है। अतः प्रणय शब्द से उनका ही ग्रहण किया गया है।

हिंसा के भेद

हिंसा के मुख्य दो भेद हैं—(१) द्रव्य-हिंसा (२) भाव-हिंसा। जिस जीव के जितने इन्द्रियाँ आदि बाह्य प्राण हैं उन प्राणों से उसको जुदा करना अथवा मारना, ताड़ना, वध, बंधन, छेदन, भेदन, शक्ति से अधिक भार-निक्षेपण (रखना), अधिक गमन कराना, शीत-उष्ण-क्षुधा-तृषा आदि के द्वारा किसी के शरीर को पीड़ा पहुँचा कर उसे दुःखी करना यह सब द्रव्य-हिंसा है।

द्रव्य-हिंसा के दो भेद हैं— (१) स्वद्रव्य-हिंसा (२) परद्रव्य-हिंसा।

स्वद्रव्य-हिंसा

क्रोध के वश होकर अपने शरीर को दुर्बल बनाना, विष भक्षण करना, शस्त्र घात द्वारा, अग्नि में जल कर या जल में डूब कर मरना अथवा लोभ के वश शरीर से शक्ति से अधिक काम लेना, स्व-रक्षा के प्रयोजन बिना भी युद्ध आदि भयंकर कामों में प्रवृत्त होना, भूख-प्यास सर्दी-गर्मी आदि की परवाह न करके धन कमाने में लगे रहना, विषय वासना वश काम सेवन करके वीर्य का नाश करना, नशे की चीजें खाना, शरीर को हानि पहुँचाने वाले प्रकृति-विरुद्ध पदार्थों का खाना-पहनना, वैद्यक शास्त्र के अनुसार स्वास्थ्य के नियमों पर न चलना। सार यह है कि अपने शरीर की रक्षा न कर उसे रोगी बनाना या रोग के होने पर उसे दूर करने का उपाय न करना, पथ्य से न रहना इत्यादि सब स्वद्रव्य-हिंसा के कारण अर्थात् निज शरीर के घात के उपाय हैं। इन पर ध्यान न देने से शीघ्र ही मरण हो जाता है या चिरकाल के लिये शरीर रोगी बन कर अन्त में बिना आयुके पूर्ण हुए अकाल में ही मरण को प्राप्त हो जाता है।

जो मनुष्य निज शरीर की रक्षा पर ध्यान न देकर यथेच्छ प्रवृत्ति करते हैं वे अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त अमूल्य मानव शरीर का घात कर स्वद्रव्य हिंसा के भागी बनते हैं। शरीर के द्वारा भी 'धर्म साधन, आत्म कल्याण, तथा मोक्ष प्राप्त होता है। जितने भी सिद्ध हुये हैं वे सब इसी के द्वारा तपश्चरण करके मोक्ष गये हैं। अतएव तीर्थंकर, चक्रवर्ती भी मुनि अवस्था में शरीर रक्षा के निमित्त आहार के लिये जाकर दातार के घर पर आहार लेते हैं। शास्त्रों में शरीर रक्षा के लिये ही तप के साथ भी यथाशक्ति पद दिया गया है। अर्थात् मुनियों को भी यही आज्ञा है कि वे तप तो अवश्य करें, परन्तु करें अपने शरीर की शक्ति के अनुकूल।

यदि यहाँ पर शंका की जावे कि जब शरीर को धर्म का साधन माना है तो एक मुनिने कडुवी तुम्बी का आहार कैसे लिया ? और सभी मुनि उपसर्ग आने पर उससे बचने का उपाय कर अपने शरीर की रक्षा क्यों नहीं करते ? क्षुधा तथा तृषा परिषह से पीड़ित होकर भी अन्तराय होने पर दातार के घर से बिना भोजन किये क्यों चले आते हैं ? जिस गृहस्थ के अभक्ष्य भक्षण का त्याग है वह शरीर रक्षा के लिये अभक्ष्य औषधियों का सेवन क्यों नहीं करता तथा प्रतिज्ञा की रक्षा के लिये अपना मरण क्यों स्वीकार कर लेते हैं ? ऐसा करने से क्या मुनि या गृहस्थ हिंसा के भागी नहीं होते ?

इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि मनुष्य के लिये शरीर व धर्म दोनों की रक्षा आवश्यक है, परन्तु जहाँ पर ऐसा अवसर आ जाय कि शरीर की रक्षा करने में धार्मिक प्रतिज्ञाओं का घात होता हो और प्रतिज्ञाओं का पालन करने में शरीर की रक्षा न हो सकती हो तो ऐसी दशा में काक-मांस

त्यागी भील के समान प्रतिज्ञा पालन ही करना चाहिए, न कि शरीर रक्षा, क्योंकि शरीर क्षण मात्र में नष्ट होने वाला और इसी भव का साथी है तथा धर्म अविनाशी एवं भव-भव में जीव का साथ देकर दुःखों से रक्षा करने वाला है।

अनादि से संसार में परिभ्रमण करते हुए अत्यन्त दुर्लभ मानव शरीर की प्राप्ति पुण्योदय से ही होती है। इसे प्राप्त कर धर्म रक्षा पर ही ध्यान दिया जावे तभी इस नश्वर, अनात्म, अशुचि एवं दुःख मय शरीर से सदा के लिए छुटकारा मिल सकता है। इसीलिए मुनि अपने पद के योग्य कर्त्तव्य पालन करने के लिये दातार के घर पर पवित्र एवं प्रासुक स्वादिष्ट, अस्वादिष्ट जैसा भी आहार मिल जाता है उसे ही ग्रहण करते हैं। मुनि जिन २ कारणों से उपसर्ग आने की संभावना हो उन उन कारणों से यथा संभव बचने पर भी उपसर्ग आ ही जावे तो उसे पूर्व कर्म का उदय व कर्मों की निर्जरा का कारण समझ कर उससे हटते नहीं हैं; किन्तु शरीर को पर समझ कर निजात्म ध्यान में मग्न होते हुए उसे सहर्ष सहन करते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ भी अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं।

यह भली भांति समझाया जा चुका है कि जहाँ प्रमत्तयोग होता है वहाँ ही हिंसा होती है। अतः उक्त रूप से धर्म की रक्षा करते हुए यदि शरीर का अन्त भी होजाय तो वहाँ पर धार्मिक पुरुषों को स्वद्रव्य हिंसा का दोष नहीं लग सकता। क्योंकि वहाँ प्रमत्तयोग का सर्वथा अभाव है। शरीर को कष्ट पहुँचाने में कोई कषाय भाव नहीं, केवल "धर्मो रक्षति रक्षितः" (धर्म की रक्षा करने से ही आत्मा की रक्षा होती है) के विचार से धर्म की रक्षा की जाती है। धार्मिक प्रतिज्ञाओं का भग करके शरीर की रक्षा करने वाला, राग के सद्भाव से, स्वभाव-हिंसा से बच नहीं सकता। अर्थात् आत्म हिंसा करने वाला हो जाता है। इसके सिवाय यदि कोई शास्त्रीय आज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति करले तो वह आस्रव के कारण मिथ्यात्व आदि २५ क्रियाओं में से आज्ञाव्यापादिकी क्रिया के द्वारा भी पाप का भागी होकर आत्म-हिंसक बनता है।

२ परद्रव्य-हिंसा।

अपने बाह्य प्राणों को छोड़ कर अन्य समस्त ससारी जीवों के प्राण-व्यपरोपण में जो हिंसा होती है वही परद्रव्य हिंसा है। इसे स्थूल रूप से सभी समझते हैं।

३ स्वभाव-हिंसा।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, तथा कषायों के द्वारा आत्मा के निज स्वभावों का घात करना स्वभाव-हिंसा है।

४ परभाव-हिंसा।

दूसरे के मन में राग, द्वेष, क्षोभ, आकुलता, शोक, वेदना आदि विकारों को उत्पन्न करना परभाव-हिंसा है।

देखा जाता है कि परद्रव्यहिंसा की तरफ तो फिर भी कुछ धर्मात्माओं का लक्ष्य है, परन्तु भाव-हिंसा की तरफ तो प्रायः अच्छे समझदार मुनि, त्यागी, व विद्वानों का भी बहुत कम ध्यान है। न उनमें परस्पर सहयोग है, न वात्सल्यभाव। वे ख्याति, लाभ, पूजा आदि के निमित्त कषायों के वशीभूत हो रहे हैं। गृहस्थों के तो और भी अधिक लापरवाही है। जिनके पास कुछ द्रव्य है वे दिन रात द्रव्योपार्जन करने, विषय

भोगने तथा आरंभ परिग्रह की वृद्धि में लगे हुए हैं। जिनके पास द्रव्य नहीं, वे निरन्तर शरीर को भस्म करनेवाली चिंतारूपी अग्नि से जल रहे हैं। जिनके पास द्रव्य है वे मान बड़ाई के लिये औसर-मृत्यु-भोज, विवाहादि में द्रव्य का व्यर्थ व्यय करके अपने अल्प द्रव्य वाले साधर्मियों को भी वैसा ही करने के लिये उत्तेजित करते रहते हैं। और इससे समाज में बहुत बुराइयां फैलती हैं। जो मनुष्य कर्जा करके अपना खर्च चलाते हैं, वे रात दिन आर्त-रौद्र-ध्यान द्वारा निरन्तर भाव-हिंसा करते रहते हैं। और अन्याय से द्रव्योपार्जन रूप अपनी अनुचित प्रवृत्तियों द्वारा पर जीव के मन को दुख पहुँचा कर परभाव हिंसा के भागी बनते हैं।

यह भी ध्यान में रखने का विषय है कि किसी जीव को शारीरिक दुख देकर उसकी द्रव्य हिंसा करने की अपेक्षा दुर्वचन आदि से किसी के मन को दुखी करने से अथवा किसी को पाप कर्म या आकुलता वर्द्धक कार्यों के करने का उपदेश देकर उसके परिणामों को दुःखी व कषायादिक से मलीन करने से अत्यन्त पापवर्द्धक भाव-हिंसा होती है। कहा है कि—

रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत्परम् ।
ध्रुवं हि प्राग्वधेऽनन्तं दुःखं भाज्यमुदग्वधे: ॥ (अन० ध० अ० ४ श्लोक १००)

किसी के मन में राग-द्वेष पैदा करना आदि परभाव हिंसा है। और किसी को विष आदि देकर मार डालना परद्रव्य हिंसा है। परभाव हिंसा करने वाले के दूसरे के मन में कषाय बढ़ाने से अनन्त दुःखदायी पाप का बंध होता है। क्योंकि वह दूसरे प्राणी के कषाय वर्द्धन के द्वारा भव-भव में दुख पहुँचाने का कारण बन जाता है। और पर द्रव्यहिंसा में किसी जीव को उसी भव में मरण का वा अन्य प्रकार का दुख होने से परभाव-हिंसा की अपेक्षा पाप कम है।

परमार्थ दृष्टि से विचार किया जावे तो हिंसा के उपर्युक्त चारों भेदों में से स्वभाव-हिंसा ही मुख्य है। क्योंकि जब कोई भी जीव कषाय आदि के वश किसी दूसरे जीव को किसी भी प्रकार से दुःख देने का विचार करता है तो उसी समय इसका प्रादुर्भाव हुए बिना नहीं रहता। शेष तीनों हिंसाएं इसके होने पर ही होती हैं। क्योंकि जब तक स्व-भाव-हिंसा न हो, तब तक न पर-भाव हिंसा हो सकती है, न स्व-द्रव्य तथा पर-द्रव्य हिंसा ही। पापबंध की दृष्टि से विचार किया जावे तो सब से अधिक पापबंध स्वभाव-हिंसा पूर्वक पर-भाव हिंसा में होता है। उससे कम स्वभावहिंसा पूर्वक स्वद्रव्यहिंसा में, उससे कम स्वभावहिंसा पूर्वक परद्रव्य हिंसा में, इससे भी कम स्वभावहिंसा में होता है। यह स्वभावहिंसा प्रमादी जीवों के निरन्तर होती रहती है। निद्रा और स्वप्न में भी पिंड नहीं छोड़ती। अतः इससे बचने के लिये निरन्तर सावधान रहना चाहिये।

यद्यपि प्रमादी जीव ही हिंसा का कर्त्ता और वही उस हिंसाजनित पाप का भागी है। तथापि जो हिंसा मुख्यता से जीव के परिणामों का आश्रय लेकर होती है वह जीवाधिकरणी कहलाती है और जो हिंसा अजीव द्रव्य के आश्रय से होती है वह अजीवाधिकरणी मानी जाती है।

जीवाधिकरणी हिंसा के निम्न लिखित प्रकार से १०८ भेद होते हैं—

कषायोद्रेकतो योगैः कृतकारितसम्मतान् ।
स्यात्संरम्भसमारंभारम्भानुज्भन्नहिंसकः ॥२७॥ (अन० ध० अ० ४)

संरंभ—जीवों के प्राणव्यपरोपण के लिये प्रयत्न करना।

समारंभ—जीव घात के लिये शस्त्रादि अपने हाथ में ले लेना, या पास में रख लेना या उनके प्रयोग करने का अभ्यास करना।

आरंभ—जीव घात कर डालना।

इनको क्रोधादि कषायों से गुणित करने पर ४ × ३ = १२ भेद होते हैं। इन बारह भेदों को मन, वचन, काय रूप तीन योगों से गुणा करने पर ३६ भेद होते हैं। इन ३६ भेदों को कृत (करना), कारित (कराना), अनुमोदना (करते हुए को अच्छा समझना) इन तीन से गुणा करने पर इस जीवाधिकरणी हिंसा के १०८ भेद बन जाते हैं। अर्थात् यह १०८ प्रकार की हिंसा जीव के परिणामों के द्वारा होती है। इस से बच कर रहने वाला ही अहिंसक कहलाता है।

इसी प्रकार अजीवाधिकरणी हिंसा के ४ भेद होते हैं—

१ निर्वर्त्तना २ निक्षेप ३ संयोग ४ निसर्ग।

इनमें से निर्वर्त्तना के दो भेद है—यथा—

१ मूलगुण निर्वर्त्तनाधिकरण—शरीर का दुःप्रयोग अर्थात् शरीर से उचित प्रवृत्ति न करना।

२ उत्तरगुण नि०—छिद्र सहित कमंडलु आदि उपकरणों का रखना।

निक्षेप के चार भेद हैं—

१ सहसा निक्षेप—पुस्तकादि उपकरणों का, शरीर का और शरीर के पुरीष (विष्ठा) मूत्रादि मलों का भय आदि के वश होकर शीघ्रता से विसर्जन कर देना।

२ अनाभोग निक्षेप—लापरवाही से "यहाँ जीव है या नहीं" देखभाल न करके उपकरण आदि को रखना।

३ दुष्प्रमृष्ट निक्षेप—"यहाँ जीव है या नहीं" यह विचार किये बिना ही पीछी, कमण्डलु आदि उपकरणों को बुरी तरह रख देना, पटक देना आदि।

४ अप्रत्यवेक्षित निक्षेप—प्रमार्जन कर लेने पर भी "यहाँ जीव है या नहीं" ऐसा देखे बिना उपकरणों को रख देना।

संयोग के दो भेद हैं—(१) उपकरण संयोजन—शीत स्पर्श वाले शास्त्रादि उपकरणों का सूर्य की धूप से तपी हुई पिच्छी आदि से प्रमार्जन करना ढक देना आदि। (२) भक्तपान संयोजन—संमूर्छन आदि जीवों की संभावना होने पर पेय (जलादि पीने योग्य) पदार्थ को पेय पदार्थ के साथ पेय पदार्थ को भोजन के साथ, भोजन को भोजन के साथ या भोजन को पेय पदार्थ के साथ मिलाना।

निसर्ग के ३ भेद हैं—(१) मनो निसर्गाधिकरण—मन द्वारा दुष्ट प्रवर्त्तन करना (२) वचन निसर्गाधिकरण—वचन से दूषित वर्त्ताव करना (३) कायनिसर्गाधिकरण—शरीर के द्वारा सदोष क्रिया व चेष्टा करना।

हिंसा यद्यपि पुंसः स्यान्न स्वल्पाप्यन्यवस्तुतः ।
तथापि हिंसाऽऽयतनाद्विरमेद्भावशुद्धये ॥२८॥ (अनगारधर्मा० अध्याय ४)

उक्त कथन से यह सिद्ध हो चुका है कि परवस्तु के निमित्त से कोई भी हिंसा नहीं होती है। अर्थात् आत्मा के राग द्वेपादि रूप परिणाम ही हिंसा के कारण हैं। इनके विना प्राणव्यपरोपण हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती। तथापि वाह्य पदार्थ इस आत्मा में भाव-हिंसा रूप परिणाम उत्पन्न कर देते हैं इसलिए वहिर्भूत मित्रादि एवं घट-पटादि सचेतन-अचेतन इष्ट पदार्थों में राग और शत्रु आदि अनिष्ट पदार्थों मे द्वेप नहीं करना चाहिए।

हिंसा और उसके फल में हीनाधिकता

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥
(तत्वार्थसूत्र अ० ६)

तीव्र भाव, मन्द भाव, ज्ञात भाव, अज्ञात भाव, अधिकरण और वीर्य— इन छहों कारणों की विशेषता से हिंसा के फल में हीनाधिकता (कमी-वेशी) होती है। इसका विशेष खुलासा सर्वार्थसिद्धि (मुद्रित) की टिप्पणी के अनुसार निम्नलिखित है :—

१-२तीव्र व मन्द भाव—कपायाविष्ट (रागी-द्वेपी) प्राणी का संयोग होने तथा देशकाल आदि अनेक प्रतिकूल वाह्य कारणों के मिलने पर जो आत्मा की इन्द्रियों के विपयों में परिणति, एवं कपायों तथा अव्रत रूप क्रियाओं की अधिकता होती है, वह तीव्र भाव है। इन्हीं वाह्य कारणों के प्रतिकूल न होने पर जो आत्मा में कपाय आदि की निर्वलता होती है वह मन्द भाव कहलाता है। कपायों की तीव्रतायुक्त आत्म परिणामों से वंध भी तीव्र होता है। तथा हिंसक को उस अशुभ कर्म का उदय होने पर दुःख भी अधिक भोगना पड़ता है। इसी प्रकार जो जीव कपाय आदि की निर्वलता से अर्थात् मन्द कपाय रूप परिणामों से हिंसा करता है। उसके अशुभ कर्म वंध अधिक न होने से वह उसके फल रूप दुःख को भी कम भोगता है।

३-४ ज्ञात व अज्ञात भाव—इन्द्रिय, कपाय, और अव्रत रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति करता हुआ जो आत्मा "मैं इसको मारता हूँ" ऐसा जान बूझ कर जीव हिंसा करता है, उसको अधिक पापवंध होने के कारण अधिक दुःख भोगना पड़ता है। और जो विना जाने-बूझे या प्रमाद से जीव हिंसा करता है, उसके पापवंध कम होता है। भावार्थ—यदि कोई जान-बूझ कर किसी जीव को मारे तो वह ज्ञात भाव से हिंसक होने के कारण अधिक पाप का भागी है। असावधानी (आलस्य आदि) से जमीन को विना देखे चलने वाले मनुष्य के द्वारा विना जाने-बूझे कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं तो वह अज्ञात भाव से हिंसक है। अतः ज्ञातभाव वाले की अपेक्षा वह अल्प पाप का बंधक है। "जीव-हिंसा में पाप होता है और उससे दुःख मिलता है" इस प्रकार के ज्ञान से रहित होने के कारण अज्ञानावस्था में हिंसा करता है यह उसका अज्ञात भाव है।

जो मनुष्य जीवहिंसा मे पाप होता है यह समझता हुआ भी जीव हिंसा करता है, तो यह उसका ज्ञात भाव है। अज्ञात भाव से हिंसा करने वालों की अपेक्षा ज्ञात भाव से हिंसा करने वाले के पापवन्ध अधिक होता है।

यदि यहाँ पर यह शंका की जाय कि ज्ञात भाव से हिंसा होने में अधिक पाप होता है तो जो धर्म का स्वरूप जान कर हिंसा आदि से बच सके उसे ही धार्मिक शास्त्रों के पठन-पाठन व स्वाध्याय आदि के द्वारा धार्मिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और जो हिंसा का त्याग न कर सके उसे नहीं ? क्योंकि वह ज्ञात भाव से हिंसक कहलाने के कारण अधिक पाप का भागी होगा।

इसका समाधान यह है कि अज्ञानी के तीव्र क्रोधादि कषायों द्वारा जितना पापबंध होता है उतना ज्ञानी के नहीं होता। क्योंकि प्रथम तो वह हिंसा से बचता ही है, यदि चारित्र मोह के तीव्र उदय से बच न सके तो विवश होकर आत्म-निन्दा के साथ मन्द कषाय से आरंभादिक में प्रवृत्ति करता है। और ऐसी प्रवृत्ति करता हुआ वह उस तीव्र भाव से प्रवृत्ति करने वाले अज्ञानी की अपेक्षा अल्प पाप का भागी है। सारांश यह कि अज्ञानी अज्ञात भाव से अल्प पाप का भागी होकर भी तीव्र कषाय भाव से अधिक पापी है। और उदासीनता तथा मन्द कषाय से प्रवृत्त हुआ ज्ञानी हिंसा करके भी अधिक पाप का भागी नहीं होता।

यदि धर्म के स्वरूप का ज्ञाता होकर भी तीव्रकषायादि रूप परिणामों के साथ हिंसाजनक कार्य करता हो तो वह अवश्य अज्ञानी की अपेक्षा अधिक पाप का भागी होगा।

५ वीर्य विशेष—हिंसा करने वाला पुरुष जितना अधिक शारीरिक शक्ति का धारी होगा, वह हिंसा करने में भी उतना ही अधिक समर्थ हो सकेगा। इसलिये उसके पाप का बंध भी अधिक हो सकता है। भावार्थ—वज्रवृषभनाराच संहनन के धारक हिंसक की अपेक्षा अल्प संहनन के धारक हिंसक में हिंसा करने की सामर्थ्य कम है।

६ अधिकरण विशेष—जैसे जीव की हिंसा की जाती है वैसा ही उसमें पाप होता है। अर्थात् एकेन्द्रिय जीव की हिंसा में जो पाप होता है उससे अधिक द्वि-इन्द्रिय की, और उससे अधिक २ ते-इन्द्रिय आदि की हिंसा में होगा। पापी मनुष्य की हिंसा के पाप से अधिक पाप धर्मात्मा की हिंसा में है। इसी तरह क्षेत्र, काल रूप अधिकरण में भी समझना चाहिये। घर में हिंसा करने से जो पाप होता है उससे अधिक पाप जिन-मन्दिर में हिंसा करने से होता है। जिन-मन्दिर में हिंसा करने से अधिक पाप तीर्थक्षेत्रों में हिंसा करने से होता है। इसी प्रकार काल में भी समझना चाहिये। जैसे कि पुण्यकाल—सामायिक, देव दर्शन, पूजन आदि के समय में आरंभादि के द्वारा हिंसा करने में जैसे अधिक पापबंध होता है, वैसा अन्य काल में करने से नहीं। अष्टमी आदि पर्व दिवसों में जो हिंसा की जावे उसमें अन्य दिवसों की अपेक्षा अधिक पाप होगा। जैसे हिंसा के फल में हीनाधिकता है वैसे ही आगे कहे जाने वाले झूठ बोलना, चोरी करना आदि पापों में भी उक्त कारणों से अशुभ कर्मबंध की हीनाधिकता समझनी चाहिये। उक्त कथन में हिंसा करने वाले हिंसक की दृष्टि से किया गया है। इसी प्रकार जो हिंसा कराने वाले हैं तथा हिंसा की अनुमोदना करने वाले हैं अर्थात् होती हुई या होने वाली हिंसा को अच्छी समझने वाले हैं, उनके भी पाप का बंध होता है। कहीं-कहीं ऐसी भी विचित्रता हो जाती है कि हिंसा कराने वाला स्वामी तीव्र भाव से हिंसा कराता है और करने वाला सेवक उस हिंसा को पश्चात्ताप पूर्वक मन्द भाव से करता है तो कराने वाला अधिक पाप का भागी और कर्त्ता मंद (अल्प) पापी होता है। कहीं २ पर हिंसा की तीव्र कषाय भाव से अनुमोदना करने वाला, हिंसा करने तथा कराने वाले से भी अधिक पापी हो जाता है। इस प्रकार भावों की अपेक्षा हिंसा के फल में हीनाधिकता समझनी चाहिए।

अब यह विचित्रता दिखाते हैं कि हिंसा करने वाला भी हिंसक नहीं होता और नहीं करने वाला भी हिंसक होता है।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥ (पुरुषार्थ सि०)

एक तो हिंसा न करके भी पाप का भागी होता है, दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल को नहीं पाता। यह विचित्रता दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है। एक तालाब में किसी धीवर ने कांटेदार बांस डाल रक्खा था और उसमें मच्छली को फँसा कर मारना चाहता था। वहीं पर एक दयालु पुरुष जा पहुँचा। उसने तालाब में एक लम्बा बांस इस अभिप्राय से डाला कि यदि कांटेदार बांस के पास मछली आवे तो उसे हटा करके मरने से बचा दूँ। संयोगवश ऐसा हुआ कि मछली आई और उस हटाने वाले के बांस की फटकार से ही मर गई। यहाँ पर जिसके द्वारा मछली मरी है वह पापी नहीं, क्योंकि उसके भाव उसे मारने के नहीं थे किन्तु मरने से बचाने के थे और धीवर के द्वारा मछली के न मरने पर भी वह पापी हुआ, क्योंकि वह उसे मारना चाहता था।

लौकिक में भी यह देखा जाता है कि किसी व्यक्ति पर अपराध साबित हो जावे कि यह अपने शत्रु को जहर देकर मारना चाहता था तो उसके द्वारा शत्रु के न मरने पर भी राज्य से उसे दण्ड मिलता है।

इसी तरह कोई डाक्टर किसी रोगी को बचाने के लिये कषाय रहित शुद्ध भाव से उसके शरीर की चीड़-फाड़ (आपरेशन) करता है और चीर-फाड़ से यदि रोगी मर जावे तो डाक्टर न अपराधी समझा जाता है और न उसे सजा ही दी जाती है।

इसी प्रकार यदि असावधानी से गमन करता हुआ एक पुरुष बहुत से छोटे छोटे जन्तुओं का घात करता है और दूसरा तीव्र कषाय से किसी एक बड़े जीव को मारता है तो यहाँ पहले को पाप कम और दूसरे को अधिक होता है। इसी प्रकार जहाँ दो मनुष्य मिलकर किसी जीव को मारते हैं वहाँ उनमें एक के कषाय मन्द होने से उसे पाप कम और दूसरे के कषाय की तीव्रता होने से अधिक पाप होता है। तीसरा मारता तो नहीं, परन्तु शस्त्र आदि की सहायता देता है वह हिंसा न करके भी पाप का भागी होता है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥५५॥ (पुरुषार्थ सि०)

कहीं एक मनुष्य एक जीव को मार रहा है। दूसरे सैकड़ों मनुष्य उसके पास खड़े होकर उस हिंसा की अनुमोदना (सराहना) कर रहे हैं या तमाशा देख रहे हैं। वहाँ पर एक हिंसा करता है और बहुत से पाप बंध करते हैं। इसी प्रकार कहीं पर बहुत से मनुष्य मिलकर हिंसा करते हैं और उन सब द्वारा की हुई हिंसा का पाप एक मनुष्य को लगता है। जैसे कि युद्ध में सेना के द्वारा जो हिंसा होती है उस समस्त हिंसा का पाप प्रधान रूप से उस देश के राजा या सेना-पति को लगता है।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि दो हिंसकों के द्वारा बाह्य में समान रूप से हिंसा होने पर भी परिणामों के भेद से एक हिंसा करके पापी होता है और दूसरा पुण्य का भागी। जैसे एक गुफा में मुनि ध्यान कर रहे थे। गुफा के बाहर एक सूअर भी था। इतने में ही कहीं से

एक सिंह आकर गुफा में मुनि को भक्षण करने के लिये जाने लगा। सूअर के मन में मुनि रक्षा के भाव हुए। वह गुफा के बाहर ही सिंह से युद्ध करने लग गया। सूअर द्वारा सिंह और सिंह के द्वारा सूअर इस तरह वे दोनों ही आपस में घायल होकर मर गये।" यहाँ दोनों की हिंसा समान है, तो भी भावों के भेद से सूअर तो मर कर स्वर्ग में पहुँचा और देव हुआ, तथा सिंह मर कर नरक में गया। इत्यादि रूप से हिंसा के द्वारा भिन्न-भिन्न तरह का पाप बन्ध होता है। और कहीं पर हिंसा से पापबन्ध न होकर उल्टा पुण्यबन्ध भी हो जाता है। इससे यह निश्चय हुआ कि :—

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पयुंजदि पओगं।
हिंसा वि तत्थ जायदि तह्मा सो हिंसगो होइ ॥८०२॥
अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥८०३॥ (सं० भग० आ०)

"किसी के द्वारा किसी भी तरह जीव मर जावे, वह हिंसक होकर पाप का भागी बनता ही है।" ऐसा एकान्त जैन सिद्धान्त में नहीं है। किन्तु जहाँ राग-द्वेष रूप परिणामों से अथवा असावधानी से जीव घात किया जावे वहीं हिंसा होती है। और प्रमाद सहित हिंसक के परिणामों में जैसी कषाय की तीव्रता व मन्दता हो वैसा ही उसका हीनाधिक फल भी मिलता है। इस कारण प्रमाद रहित आत्मा तो अहिंसक है और प्रमादी आत्मा हिंसक है। यह सिद्धान्त भी स्वयं निकल आता है कि :—

"स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिहद्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः ॥"

प्रमाद सहित जीव खुद ही हिंस्य (हिंसा के योग्य) होता है और अपने भावप्राणों की हिंसा करता हुआ खुद ही हिंसक बन जाता है। अर्थात् अपने द्वारा आपकी ही हिंसा करके हिंसा-जनित पाप का भागी बन जाता है। हिंसक बनने के लिये किसी दूसरे जीव का होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि प्रमाद रहित अवस्था में पर जीव की हिंसा करता हुआ भी वह अहिंसक है। और प्रमादयुक्त अवस्था मे पर जीव का वध न होते हुए भी वह स्व-हिंसक बन जाता है।

जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरगवत्थुजोगेण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादि वध हेदु ॥८०६॥ (भग० आ०)

यदि प्रमाद रहित शुद्ध आत्मा के भी बाह्य पदार्थ के संयोग से (पर जीव के निमित्त से) पाप का बंध माना जावे तो संसार में कोई अहिंसक नहीं ठहरे। क्योंकि समिति रूप प्रवृत्ति करते हुए अप्रमादी मुनि के द्वारा भी गमनादि क्रियाओं में वायुकायिक आदि जीवों का घात तो होता ही है। क्योंकि उनसे बचने का कोई उपाय ही नहीं है।

अहिंसा व्रत की पांच भावनाएँ ।

निगृह्णतो वाङ्मनसी यथावन्मार्गं चरिष्णोर्विधिवद्यथार्हम् ।
आदाननिक्षेपकृतोऽन्नपाने दृष्टे च भोक्तुः व्रतपत्यहिंसा ॥३४॥ (अन० धर्मा० अ०४)

जो मोक्ष के इच्छुक मुनि, वचन-गुप्ति और मनोगुप्ति को पालते हैं और शास्त्रोक्त विधि से गमन करते हैं, पुस्तकादि उपकरणों को अवलोकन से यत्न पर अर्थात् सब प्रकार से जीव रक्षा पर ध्यान देते हुए उठाते-धरते हैं, और अच्छी तरह नेत्रों से देखकर भोजन व जलपान आदि करते हैं उन्हीं के अन्तरंग में अहिंसा महाव्रत की स्थिरता होती है। सारांश यह कि वचनगुप्ति व मनोगुप्ति रखने, ईर्यासमिति और आदान निक्षेपण समिति के पालने तथा अन्धकार व रात्रि में भोजन न करने से अहिंसा महाव्रत की पुष्टि होती है। उपर्युक्त पाँचों में से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का विशेष स्वरूप गुप्तियों के वर्णन में तथा ईर्या-समिति व आदान-निक्षेपण-समिति का स्वरूप समितियों के निरूपण में किया जायगा।

आलोकित पान-भोजन नामक जो पाँचवीं भावना है उसका विशद वर्णन किया जाता है।

रात्रि में भोजन करने से सूर्य के प्रकाश के विना खान-पान की वस्तुओं में मक्खी, मच्छर, चींटी आदि जीव पूरी तौर से दिखलाई न देने से खाने-पीने में आ जाते हैं। तथा भोजन संबंधी जो अन्य प्रवृत्तियाँ हैं उनमें भी उनकी हिंसा हो जाती है।

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ, भावणाओ य सव्वाओ ॥ (भगवती आराधना ११८५)

अहिंसादि पांच महाव्रतों की रक्षा के लिये ही रात्रि भोजन त्याग, तीनों गुप्तियों व पाँचों समितियों के पालन तथा सब भावनाओं की तरफ ध्यान रखने का उपदेश दिया गया है। इस गाथा द्वारा रात्रि-भोजन करने से पाँचों महाव्रतों का पालन न होना बतलाया है। जैसे—(१) यदि मुनि रात्रि में भोजन के लिये गमन करे तो प्रकाश के विना त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होगी। आहार देने वाले के गमनागमन का मार्ग, आहार के पदार्थ रखने का स्थान, जहाँ आहार के लिये खड़ा रहता है वह जगह आहार योग्य है या नहीं इसकी जांच, उच्छिष्ट (जूठन) गिरने का स्थान आदि रात में नहीं दिखाई देते। सूक्ष्म जीवों का दिन में भी कठिनता से बचाव होता है तो रात्रि में तो उनका बचाव हो ही कैसे सकता है? भोजन परोसने व रखने के पात्र भी नहीं देखे जा सकते। इत्यादि बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रात्रि भोजन से जीवों की रक्षा होना असंभव है।

(२) रात्रि होने के कारण जिनका विषय नहीं देखा गया है ऐसी ईर्या व एषणा समिति की आलोचना जब मुनि करने लगे तो झूँठ बोलने से सत्य महाव्रत में भी बाधा आती है।

(३) यदि किसी आहार-दाता को आहार देते हुए निद्रा या ऊँघ आ जाय तो ऐसी दशा में अदत्त आहार के लेने से अचौर्य महाव्रत की भी रक्षा नहीं हो सकती।

(४) यदि मुनि अपने निवास स्थान में रात को खाने के लिए दिन में ही भोजन लाकर किसी वर्तन में रख दे तो उसके परिग्रह त्याग महाव्रत का भी नाश होता है।

अतः रात्रि-भोजन का त्याग करने से ही महाव्रत पल सकते हैं। अर्थात् पाँचों महाव्रतों का पालन निरतिचार हो सकता है।

इसी कारण से श्रावकाचारों में कहीं २ रात्रि भोजन त्याग को छठा अणुव्रत माना है। और पाक्षिक श्रावक तक को भी रात्रि-भोजन का त्याग करने के लिये उपदेश दिया गया है। सागार धर्मामृत में तो श्रावक के आठ मूल गुणों में भी रात्रि भोजन त्याग को लिया गया है और दिन के आदि तथा अन्त के मुहूर्त्त में भोजन करने पर भी दोष बतलाया है। यथा:—

मुहूर्त्तेऽन्त्ये तथाऽऽद्येऽह्नो वल्भाऽनस्तमिताशिनः ।
गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति ॥ (सागारधर्मा० अ० ३ श्लोक १५)

दिन के प्रथम तथा अन्तिम मुहूर्त्त में भोजन करने वाले के अतिचार (दोष) लगता है। तथा रोग निवारणार्थ औषधि के लिये भी रात्रि में आम और घृत का सेवन दोष जनक बतलाया गया है। इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रात्रि में भोजन करना तो दूर रहा, परन्तु रात्रि भोजन त्यागी दार्शनिक श्रावक के लिये दिन के प्रथम व अन्त्य मुहूर्त्त में औषधि का सेवन भी निषिद्ध बतलाया गया है। अतः मुनि के लिए तो रात्रि भोजन त्याग सर्वथा वर्जनीय स्वयं सिद्ध ही है। दिन मे भी यदि अन्धकार हो जावे और अन्न-पान अच्छी तरह देख शोध न सके तो आहार का ग्रहण करना वर्जनीय माना है।

अहिसा में स्थिर रहने का उपदेश

परिहर छज्जीवकायवधं मणवयणकायजोएहिं ।
जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुत्तो ॥७७९॥ (भग० आ०)

अर्थ—हे संयतो ! पाँचों समितियों में सावधान रहकर तुम्हें छह काय के जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना से परिहार करना उचित है।

अब भूख प्यास आदि से अत्यन्त संतप्त होने पर भी जीव बाधा से सर्वथा दूर रहना चाहिए यह शिक्षा देते हैं।

तण्हाछुहादिपरदाविदो वि जीवाण घादणं किच्चा ।
पडिहारं कादुं जे मा तं चिंतेसु लभसु सुदिं ॥७८१॥ (भग० आ०)

हे संयमियो ! रात दिन तुम्हें भयानक प्यास सता रही हो और उससे तुम्हारा शरीर अत्यन्त व्याकुल हो रहा हो तथापि उसके प्रतिकार के लिये ऐसा चिन्तन भी मत करो जो हिंसा का कारण हो और जिससे किसी भी जीव को किसी प्रकार की बाधा पहुँचे।

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥५२॥ (ज्ञानार्णव प्रकरण ८)

सम्पूर्ण संसार के जीवों को अभयदान दो, और उनके साथ निःस्वार्थ मित्रता का व्यवहार करो। तथा चर और अचर (त्रस-स्थावर) विश्व के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो। इसका आशय यह है कि जो साधु आत्म-शान्ति का इच्छुक है उसे चाहिए कि समस्त प्राणियों के साथ अहिंसा-मय व्यवहार करे। जो दूसरों को शान्ति देता है वह अपने लिए शान्ति का बीज बोता है।

अहिंसा की प्रशंसा

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम् ॥३१॥ (ज्ञानार्णव प्रकरण ८)

सब मतों और सब शास्त्रों में अहिंसा ही धर्म का स्वरूप माना गया है और हिंसा में पाप माना गया है। जैसे आकाश से कोई बड़ा नहीं वैसे ही अहिंसा व्रत से कोई बड़ा नहीं है। जैसे आकाश में तीन लोक और पृथिवी में द्वीप समुद्र समा रहे हैं उसी प्रकार अहिंसाव्रत में सब व्रत गर्भित हैं।

अहिंसा ही जगत की माता है। अहिंसा से ही आनन्द की परम्परा, उत्तम गति और अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

हिंसा की निन्दा ।

यत्किञ्चित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादिसमस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम् ॥ (ज्ञाना० ८।५८)

जीवों को संसार में जो कुछ भी दुःख, शोक व भय होता है तथा दरिद्रता आदि की प्राप्ति होती है, वह सब जीव-हिंसा द्वारा किए हुए पाप का ही फल है।

विषयाभिलाषलाम्पट्यात्तन्वन्नृजु नृशंसताम् ।
लालामिवोर्णनाभोऽधः पतत्यहह दुर्मतिः ॥१७॥ (अन० धर्मा० अध्याय ४)

जो मन्द बुद्धि विषय भोगों की लोलुपता से तीव्र हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, उनका अधःपतन होता है। अर्थात् वे इस भव में भय, शोक तथा दारिद्रय भोगते हैं और मर कर दुर्गति पाते हैं। जैसे कि मकड़ी ; मक्खी आदि जीवों को खाने के लिये सीधा तन्तुओं का जाल रच कर आप ही नीचे गिर जाती है।

त्रैलोक्ये न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ।
जीवजीवितघातोऽतस्त्रैलोक्यहननोपमः ॥ (सं० भग० आ० ८१४)

भावार्थ—किसी मनुष्य से यह कहा जाय कि यदि तुम मर जाओ तो तुम्हें तीन लोक की सम्पदा दे देवेंगे तो वह इसे कभी पसंद नहीं करेगा, क्योंकि मर जाने पर तीन लोक की सम्पदा का उपभोग कौन करेगा ? अतः सिद्ध हुआ कि किसी भी जीव के जीवन का मूल्य तीन लोक की संम्पदा से भी अधिक है।

अनादि काल से भ्रमते हुए सब जीवों के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध हुए हैं, अतः किसी भी जीव का घात करना सम्बन्धियों का घात करना है। हिंसक-मनुष्य का विश्वास उसके रिश्तेदार भी नहीं करते। दूसरे जीवों का घात करना अपना घात है। हिंसक को इस लोक में वध, बंधन, देश निष्कासन आदि का दण्ड मिलता है और परलोक में दुर्गति, अल्पायु, दुर्बलता, रोगीपन, कुरूपता, अंधापन, बहिरापन आदि प्राप्त होते हैं। ये सब हिंसा के ही फल हैं।

हिंसा का निषेध

शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः ।
कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितम् ॥ (ज्ञाना० ८।१८)

अर्थ—किसी विघ्न की शान्ति के लिये, देव-पूजा व यज्ञ के लिये जीवों की हिंसा करने से शीघ्र ही नरक में पतन होता है।

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मंगलार्थेऽप्यमंगलम् ।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति ॥ (ज्ञाना० ८।२२)

सुख के लिये की हुई हिंसा दुःख परम्परा को बढ़ाती है। मंगल के लिये की हुई अमंगल को करती है और अपने व अपने पुत्रादि के जीवित रहने के लिये बलिदान आदि द्वारा की गई हिंसा निश्चित ही मृत्यु का आह्वान करती है।

शंका—धर्म के लिये (यज्ञादि में) की हुई हिंसा, हिंसा नहीं होती ऐसा वैदिक शास्त्रों में कहा है, क्या वह ठीक नहीं है ?

समाधान—हिंसा कभी धर्म रूप नहीं होती। जहाँ धर्म है वहाँ हिंसा नहीं और जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं होता। अग्नि उष्ण होती है, वह कभी शीतल नहीं हो सकती। इसी प्रकार जो हिंसा अधर्म रूप है वह धर्म रूप कभी नहीं हो सकती।

शंका—देवी-देवताओं के लिये किया गया जीव-बलिदान हिंसा जनक नहीं होता है ; क्योंकि उससे देवताओं की तृप्ति होती है ?

समाधान—बलिदान से देवी-देवताओं को तृप्ति होती है यह मानना सर्वथा मिथ्या है। देवताओं को मांसभोजी मानना भी अज्ञानता है; क्योंकि देवता तो अमृत भोजी होते हैं। महा-भारत अनुशासन पर्व में कहा है—

स्वाहास्वधाऽमृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः ।
क्रव्यादान् राक्षसान् विद्धि जिह्वालम्पटपरायणान् ॥

अर्थ—स्वाहा और स्वधा से जो अमृत उत्पन्न होता है, देव उसी का भोजन करते हैं। जिह्वा लम्पटी राक्षस मांस का भक्षण करते हैं।

मांसभक्षी धूर्तों ने बलिदान की प्रथा चलाकर अपना स्वार्थ साधन किया है और भोले प्राणियों को महापाप के कार्य में फँसा दिया है।

शंका—छोटे छोटे जंतुओं को मार कर खाने की अपेक्षा एक बड़े प्राणी को मारकर खाने में अल्प पाप होता है, यह मानने में क्या हानि है ?

समाधान—किसी भी जीव को मारना ठीक नहीं; चाहे जीव बड़ा हो या छोटा—हिंसा अनिवार्य है। शास्त्रों का कथन है कि असंख्य छोटे जीवों के मारने में जितनी हिंसा होती है उतनी हिंसा एक बड़े जीव के मारने में हो जाती है। इसलिए यह दलील बिलकुल हास्यास्पद है। जैन शास्त्रों में हिंसा के पाप का क्रम यह बतलाया गया है कि एकेन्द्रिय जीव की हिंसा से द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा में अधिक पाप है, और द्वीन्द्रियसे त्रीन्द्रिय की, त्रीन्द्रिय से चौइन्द्रिय की एवं चौइन्द्रिय की हिंसा से पंचेन्द्रिय की हिंसा में अत्यन्त अधिक पाप होता है। पंचेन्द्रियों में भी छोटे २ जीवों के मारने की अपेक्षा बड़े जीवों के मारने में बहुत अधिक हिंसा होती है। इसलिए बड़े प्राणियों को मारना महा पाप जनक है। दूसरी बात यह है कि पंचेन्द्रियादि जीवों के मृतक शरीर (मांस) में उसी जाति के अनन्त पंचेन्द्रियादि जीव प्रति समय उत्पन्न होते रहते हैं; मांस-भक्षी को उन सब जीवों की हिंसा का पाप होता है।

शंका—एक हिंसक जीव को मार देने से कई प्राणियों की रक्षा होती है, इसलिए सर्पादि हिंसक जीवों को मारने में क्या हानि है ?

समाधान—इस दलील से भी हिंसा का समर्थन नहीं होता। यद्यपि सिंहादि प्राणी अवश्य क्रूर एवं हिंसक हैं; फिर भी वे प्रायः तब तक किसी पर आक्रमण नहीं करते जब तक उनको कोई हानि पहुँचाने की चेष्टा नहीं करता। किन्तु यहाँ यह बात अवश्य माननी होगी कि यह प्राणी जब गृहस्थ पर आक्रमण करने लगें तब वह अपनी आत्मरक्षा के लिए इनके विरुद्ध शस्त्र उठा सकता है। इस आत्मरक्षा के प्रयत्न में यदि इन जीवों की हिंसा हो जाय तो वह हिंसा गृहस्थ के लिए त्याज्य नहीं। किन्तु मुनिमार्ग गृहस्थों के मार्ग से बिलकुल भिन्न है। मुनि हिंसा के पूर्णतः त्यागी होते हैं। इसलिए सिंहादिक हिंसक पशु उन पर आक्रमण करें तो भी वे चुपचाप बर्दाश्त करेंगे। हिंसक जीवों को मारकर यदि कोई संसार में हिंसा बन्द करना चाहे तो यह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि दुनियाँ में सबसे बड़ा हिंसक तो मनुष्य है। संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो मनुष्य से अधिक हिंसक और क्रूर हो सके। और तब तो मनुष्य को भी मार डालने का प्रसंग आवेगा। और यदि इसे स्वीकार किया जावे तो मनुष्य जाति का ही सर्वनाश अवश्यभावी है। इसलिए हिंसक जीवों पर भी हमें दया करनी चाहिए तभी हम उनकी हिंसक प्रवृत्ति को बदल सकते हैं।

शंका—हिंसक जीव अन्य प्राणियों को मार कर महापाप करते हैं, उनको मार देने से वे उस पाप से बच जावेंगे। ऐसा विचारकर यदि कोई उपकारी पुरुष उन्हें मार डाले तो उसे पाप बन्ध होगा क्या ?

समाधान—उसे अवश्य पाप बन्ध होगा। कारण कि उसका ऐसा मानना मिथ्या है। हिंसक-प्राणी को मार डालना उसका उपकार नहीं, किन्तु अपकार है। यदि वह उसे हिंसादि बुरे कृत्यों से छुड़ा देता, उसकी हिंसक प्रवृत्ति को बदल देता तो उसका उपकार होता परन्तु उसने ऐसा तो किया नहीं। बल्कि उसके प्राण और ले लेने से खुद ने भी हिंसा का महा पाप किया। किसी पापी को मार देने से उसकी पाप-मय प्रवृत्ति बन्द नहीं होती, बल्कि अशुभ संस्कारों के बने रहने से जन्मान्तर में भी वह पाप करता रहता है। पापी का पाप से उद्धार करने का तो एक यही उपाय है कि किसी भी प्रकार से उसकी पाप प्रवृत्ति को बदला जाय। इसलिए उसका उपकार करने की बुद्धि से उसे मार देने की दलील देना व्यर्थ है।

शंका—कोई जीव रोग से पीड़ित होकर छटपटा रहा है, उसका इलाज करने पर भी रोग कम नहीं होता; ऐसी हालत में उसे दुःख से छुड़ाने के लिये मार दिया जावे तो क्या हानि है ?

समाधान—प्रत्येक प्राणी रोगादि से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी अपने प्राणों को खोना नहीं चाहता, वह जीते रहना ही श्रेष्ठ समझता है। तब उसे अपनी इच्छा से जबरदस्ती मार डालना क्या उसका उपकार है ? हमें तो यही उचित है कि औषधि द्वारा उसको शान्ति पहुँचाने का उपाय करें, और रोगी भी यही चाहता है। आपको क्या अधिकार है कि आप उपकारी बनकर जबरदस्ती उसके अत्यन्त प्रिय प्राणों को छीन लो। कोई भी समझदार मनुष्य अपने वृद्ध माता-पिता की चिररोग पीड़ित होने पर भी हिंसा नहीं करता। इससे स्पष्ट होता है कि रोग से पीड़ित को मार डालना नृशंस मनुष्य का कार्य है, दयालु पुरुष का नहीं।

शंका—दुःखी जीव को नहीं मारना चाहिए; क्योंकि उसको इस जन्म में नहीं तो पर जन्म में भी अवश्य दुःख भोगना पड़ेगा। यह तो आपका कहना ठीक है, लेकिन सुखी जीव को सुख भोगते हुए मार दिया जावें तो अच्छा है; क्योंकि वह आगे के जन्म में यहाँ भोगे हुए सुख से अवशिष्ट सुख का भोग करेगा ? यदि उसे सारे सुख का यहीं भोग कर लेने दिया जावे तो वह आगे के जन्म में सुख नहीं भोग सकेगा, दुःख ही दुःख भोगेगा।

समाधान—यह आपका मानना भूल से भरा है। सुखी जीव को सुखावस्था में मारने पर उसे बहुत दुःख होगा। मरते समय उसके परिणामों में अत्यन्त संक्लेशता होने से वह दुर्गति का पात्र होगा। तब उसे वहां सुख न मिल कर दुःख ही भोगना पड़ेगा। इसलिये सुख भोगते हुए जीव को मारना भी पाप जनक है।

शंका—कोई योगी-साधु समाधि में मग्न है उस समय उसे मार देने पर वह सुगति का पात्र होगा, इसलिए ऐसे योगी की हिंसा तो पाप जनक नहीं है ?

समाधान—समाधिस्थ योगी भी मरना नहीं चाहता। आत्मकल्याण करना चाहता है। मार डालने से उसका आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। बल्कि यदि उसके भावों में संक्लेशता आ गई तो उसके दोनों लोक बिगड़ जावेंगे और मारने वाले को भी अवश्य पाप लगेगा। इसलिए समाधिस्थ योगी को मार डालना भी उसका उपकार नहीं।

शंका—कोई मनुष्य अत्यन्त क्षुधातुर है, भूख के मारे उसके प्राण व्याकुल हो रहे हैं—घबरा रहे हैं। उस समय हमारे पास में अन्य कोई पदार्थ नहीं है यदि दयालुता से उसको खाने के लिये अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया जावे तो उससे पुण्य होगा या पाप ?

समाधान—नहीं, मांस खाने योग्य वस्तु नहीं है। दान, भक्ष्य पदार्थ का ही दिया जाता है। इसीमें स्व और पर की भलाई है। चाहे कोई कितना ही भूखा क्यों न हो उसे मांस नहीं देना चाहिए। ऐसे समय की कल्पना करना असंगत है कि जब संसार में अन्य कोई खाद्य पदार्थ न रहे। और यदि संगत भी हो तो भी एक को मार कर दूसरे की रक्षा करना किसी भी तरह उचित नहीं। इससे तो यही अच्छा है कि वह भूखों मरने वाला स्वय ही शान्ति से प्राण त्याग करदे। उसे अपने या अन्य किसी के शरीर का मांस देने की अपेक्षा क्षुधा-विजय के लिए धर्मोपदेश देना चाहिए।

जो हिंसक प्राणी स्वभावतः मांस भक्षक हैं उनकी जीवन-रक्षा की चिन्ता करने की हमें आवश्यकता नहीं है। एक हिंसक प्राणी की हत्या करना किसी भी तरह तर्क संगत नहीं। बाज की भूख को शान्त करने के लिए अपना मांस दे देने वालों के लिए देवों का आना काल्पनिक कथाएँ हैं— दया की अतिरंजना है।

छोटे या बड़े सब जीवों में सुख व दुःख के अनुभव करने की शक्ति है। हमारे शरीर में छोटा-सा काँटा लग जाने पर बहुत वेदना होती है। जब तक वह निकल नहीं जाता चैन नहीं पड़ता है। तब फिर किसी भी जीव पर अपनी स्वार्थ बुद्धि से अथवा अज्ञानता से शस्त्र प्रहार किया जाने पर उसे कितना दुःख होगा, यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है। वेदना से घबराकर प्राणी छटपटाते हैं, चिल्लाते हैं, भागते हैं, लेकिन निर्दयी मनुष्य कुशास्त्रों के कुयुक्ति पूर्ण प्रमाण देकर अपनी कुचेष्टा को उचित, पाप रहित सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु यह सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुचित (पाप जनक) सिद्ध होता है, प्रत्येक प्राणी चाहे वह हीनावस्था में ही क्यों न हो, जीवित रहना ही अच्छा समझता है। और उसके लिए शक्ति भर प्रयत्न करता है। मल का कीड़ा मल में ही जीते रहना चाहता है, बाहर निकलना तक नहीं चाहता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शुभाशुभ कर्मानुसार जिसे जो शरीर मिला है, वह उसी को अपनाये रखना चाहता है और उसी की रक्षा के लिये भरसक प्रयत्न करता है, इसलिए उसे सताना कभी भी ठीक नहीं।

अन्य मत से अहिंसा की प्रशंसा एवं हिंसा की निन्दा

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥ (योगदर्शन साधनपाद)

अर्थात् जिस योगी के हृदय में अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाती है उसके प्रभाव से उसके समीप में बैठे हुए क्रूर जीवों के परिणाम शान्त हो जाते हैं। जाति विरोधी जीव नेवला-साँप, कुत्ता-बिल्ली आदि अपने जातिगत स्वाभाविक वैर को छोड़ देते हैं। गाय-शेर दोनों एक घाट पानी पीने लगते हैं।

यो न हिंस्यादहंह्यात्मा भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
तस्य देहाद्वियुक्तस्य भयं नास्ति कदाचन ॥३४॥ (बृहस्पति स्मृति)

बृहस्पति स्मृति में कहा है कि जो मनुष्य, मैं सब का आत्मा हूँ अर्थात् जैसा आत्मा मेरा है, वैसा ही सब जीवों का है, इस विचार से अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज इन चार प्रकार के जीव-समूह की हिंसा नहीं करता, वह शरीर छोड़ कर परलोक में जाता है तब उसको कोई भय प्राप्त नहीं होता। और भी कहा है—

धनं फलति दानेन जीवितं जीवरक्षणात् ।
रूपमारोग्यमैश्वर्यमहिंसाफलमश्नुते ॥७१॥ (बृहस्पति स्मृति)

दान के देने से धन सफल होता है, जीवों की रक्षा करने से जीवन सफल होता है। अर्थात् पूर्ण आयु प्राप्त होती है। जो हिंसा नहीं करता, उसको अहिंसा के फलस्वरूप सुन्दरता, निरोगता, ऐश्वर्य आदि प्राप्त होते हैं।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो द्विजः ।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो, न भयं जातु विद्यते ॥१०॥ (वशिष्ठ स्मृति)

जो द्विज सब जीवों को अभय देकर अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा न करता हुआ अपनी प्रवृत्ति करता है, उसको किसी भी जीव से किसी भी तरह का भय नहीं होता।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१५९॥ (मनुस्मृति अ० २)

धर्म चाहने वाले मनुष्य को अहिंसा के द्वारा ही अपना धर्म कल्याण साधन करना चाहिए। उसकी वाणी भी मीठी और मधुर होनी चाहिए।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ (मनु० अ० ६।६०)

इन्द्रियों का निरोध, रागद्वेष का नाश और जीवों पर दया करने से सन्यासी को अमर पद की प्राप्ति होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥ (गीता अ० १२)

कृष्णजी अर्जुन को कहते हैं कि "जो किसी जीव से द्वेष नहीं रखता, सब में मित्रता व दया-भाव रखता है, ममता और अहंकार से रहित है, जो दुःख में विषाद और सुख में हर्ष नहीं करता है, वही क्षमावान् है। जिससे दुनियाँ को कोई तकलीफ नहीं होती और न जो दुनियाँ से घबराता है। जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से रहित है, वह मुझे प्रिय है।

"न हिंनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥" (गीता १३।२८)

गीता में और भी कहा है कि "जो अपनी आत्मा से आत्मा को नहीं मारता है, अर्थात् रागद्वेष आदि से अपनी (आत्म स्वभावों की) हिंसा नहीं करता, वह परम गति—मोक्ष को पाता है।

"ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।" (गीता १७।१४)

ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये दोनों दैहिक तप हैं।

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (गीता ६।३०)

हे अर्जुन ! जो सब जीवों में अपने समान ही सुख-दुःख का अनुभव करता है, वही परम योगी है।

"तत्राऽहिंसा सर्वदा सर्वथा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ॥"

व्यास जी ने कहा है कि सब काल में सब प्रकार से सब जीवों को दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है।

प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥ (व्यास वाक्य)

जो मूर्ख जीव हिंसा से धर्म चाहता है, वह काले सर्प की दाढ़ से अमृत की वांछा करता है।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मन, वचन, काय से, किसी जीव को क्लेश नहीं देना ही अहिंसा कहा है।

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपोदानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥ (भागवत स्कंध ३ अ० ७)

सब वेदों का पढ़ना, यज्ञों का करना, तपों का तपना और दानों का देना ये सब अभयदान (अहिंसा) के एक अंश के बराबर भी नहीं हैं। भावार्थ—वेद आदि पढ़ने से जो पुण्य होता है उससे अधिक पुण्य एक जीव की रक्षा में होता है।

नास्त्यहिंसापरं पुण्यं, नास्त्यहिंसापरं सुखं ।
नास्त्यहिंसापरं ज्ञानं, नास्त्यहिंसापरोऽभयः ॥ (महाभारत)

अहिंसा से उत्कृष्ट कोई भी पुण्य, सुख, ज्ञान और अभय नहीं है।

यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गः, नरको केन गम्यते ॥ (महाभारत)

यज्ञ के स्तम्भ को काट कर, पशुओं को मार कर, रुधिर बहाकर ही यदि स्वर्ग की प्राप्ति हो, तो फिर दूसरा कौन-सा पाप है कि जिसके करने से नरक में गमन हो सके।

अहिंसासंभवो धर्मः स हिंसातः कथं भवेत् ।
न तीर्थजानि पद्मानि जायन्ते जातवेदसः ॥ (महाभारत)

जैसे जलाशयों में पैदा होने वाले कमल अग्नि में नहीं उग सकते, वैसे ही अहिंसा से उत्पन्न होने वाला धर्म हिंसा से नहीं हो सकता।

एकतः कांचनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा ।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥ (महाभारत)

स्वर्ग के मेरु और रत्नों से भरी हुई पृथ्वी का ब्राह्मणों को दान देने से जितना पुण्य होता है, उतना वा उससे अधिक पुण्य एक जीव को बचाने में है।

जन्ममृत्युभयाभावादभयो मोक्ष उच्यते ।
मोक्षमेव नरो याति प्राणिनामभयप्रदः ॥ (सूर्यपुराण)

मोक्ष में जन्म-मरण का भय न होने से वह अभय कहा जाता है, अतः किसी प्राणी को किसी तरह का भय न पहुँचाने वाला (उनकी भय से रक्षा करने वाला) मनुष्य ही मोक्ष में जाता है।

जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानि कदाचन ।
ये न हिंसन्ति भूतानि शुद्धात्मानो दयापराः ॥ (वरा० अ० १३२)

वाराह पुराण का कथन है कि जो दया में तत्पर अतएव शुद्धात्मा हैं, वे जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज इन चार प्रकार के जीवों की कदापि हिंसा नहीं करते।

न घातयन्ति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते ।
सर्वभूतेषु सस्नेहा यथात्मनि तथा परे ॥ (महाभारत)

जो न किसी जीव को मारते हैं, न मरवाते हैं, न मारने वाले की अनुमोदना करते हैं, सब जीवों में स्नेह रखते हैं तथा अपने जैसा ही दूसरों को समझते हैं, वे महात्मा हैं।

"यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत !
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः ॥"

हे भारत ! जो पशुओं को मारने वाले हैं, वे उस पशु के शरीर में जितने रोम (बाल) हैं, उतने हजार वर्ष नरक में पकाये जाते हैं।

ध्रुवं प्राणिवधो यज्ञे नास्ति यज्ञस्त्वहिंसकः ।
ततोऽहिंसात्मकः कार्यः सदा यज्ञो युधिष्ठिर ! ॥
इन्द्रियाणि पशून् कृत्वा वेदीं कृत्वा तपोमयीम् ।
अहिंसामाहुतिं कृत्वा आत्मयज्ञं यजाम्यहम् ॥ (महाभारत)

हे युधिष्ठिर ! यज्ञ में निश्चय से जीव-घात होता है, अश्वमेध आदि यज्ञों में कोई भी ऐसा यज्ञ नहीं, जिसमें हिंसा न होती हो, अत ऐसा यज्ञ करना चाहिये कि जिसमें हिंसा न होती हो।

मैं तो तप-रूपी वेदी बनाकर, उसमें अहिंसा की आहूति से इन्द्रिय-रूपी पशुओं का होम कर आत्म-यज्ञ करता हूँ। अर्थात् इन्द्रियों को विजय करके आत्म-यज्ञ (आत्मा की पूजा) करता हूँ।

अहिंसा सर्वजीवेषु तत्त्वज्ञैः परिभाषिता ।
इदं हि मूलं धर्मस्य शेषस्तस्यैव विस्तरः ॥

मार्कण्डेयजी ने कहा है कि तत्त्व के जानने वालों ने सब जीवों की दया को ही धर्म की जड़ माना है। बाकी के सब यम नियम इसी के विस्तार रूप हैं।

॥ इति अहिंसा महात्म्यम् ॥

सत्य महाव्रत

अहिंसा महाव्रत का वर्णन कर चुके। अब सत्य महाव्रत का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

सत्य का अर्थ है प्रशस्त वाक्य। प्रमाद के वशीभूत होकर कभी अप्रशस्त (अकल्याणकारी) वाक्य नहीं बोलना सत्य महाव्रत है। बहुत से लोग सत् शब्द का प्रशस्त अर्थ न कर के ऐसा कहते हैं कि जो वस्तु जिस देश व जिस काल में जैसी देखी या सुनी हो, उसको वैसी ही कहना सत्य है। उनकी दृष्टि में सत् शब्द का अर्थ है—विद्यमान या यथार्थ। पर यह अर्थ यहाँ ठीक नहीं। विद्यमान हो या अविद्यमान, अप्रशस्त वाक्य का बोलना कभी सत्य नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि आगे वर्णन किये जाने वाले इन सत्य आदि व्रतों का आधार अहिंसा है। अहिंसा ही को विस्तार से समझाने के लिए सत्य आदि रूप में उसका व्याख्यान किया जाता है। इसलिए जो वाक्य जीवों का हित करने वाला है, उन्हें प्राण-संकट से बचाने वाला है, वह अविद्यमान या अयथार्थ होते हुए भी अहिंसा-धर्म का पोषक होने से सत्य रूप है। और जो वचन पाप रूप हिंसा-कार्य की पुष्टि करता है, वह चाहे कितना ही यथार्थ क्यों न हो अहिंसा-मार्ग से प्रतिकूल होने के कारण असत्य एवं निन्दनीय है*। श्री वट्टकेरस्वामी ने लिखा है—

> रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्तिं ।
> सुत्तत्थाण विकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥ (मूलचार मूलगुणाधिकार ६)

राग, द्वेष, मोह, पैशून्य (चुगलखोरी), ईर्ष्या (दूसरे की उन्नति को न सह सकना) आदि के वश होकर असत्य नहीं बोलना, जिससे दूसरे को सन्ताप हो ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलना, सर्वथा अस्ति या नास्ति आदि रूप एकान्त वाक्य का त्याग करना, सूत्रार्थ (द्वादशांग वाणी) का अन्यथा प्रतिपादन नहीं करना सत्य महाव्रत है।

उक्त गाथा में छोड़ने योग्य अप्रशस्त क्या है—यह अच्छी तरह समझा दिया गया है। राग, द्वेष आदि भावों से बोलना अप्रशस्त है, क्योंकि वह भाव-हिंसा का कारण व कार्य है। इसी तरह दूसरों को सन्ताप पहुँचाने वाला वचन भी अप्रशस्त है, क्योंकि उससे भी दूसरों के भावों की हिंसा होती है। सूत्रार्थ का विपरीत कथन भी अप्रशस्त है, क्योंकि इससे भी महा अनर्थ की सम्भावना है। आगम के विपरीत कथन से मिथ्यात्व आदि की उत्पत्ति होती है। अयथार्थ तो अप्रशस्त है ही। इसलिए ऊपर कहे अनुसार अप्रशस्त वचनों का त्याग करके प्रशस्त वचन ही बोलने चाहिए। अप्रशस्त बोलने से कोई लाभ नहीं। बल्कि कटु एवं कठोर वचन बोलते समय उल्टा अपने शरीर को विशेष कष्ट पहुँचता है। आत्मा में क्रोध आदि

---

*अन्य लोगों को भी सत् शब्द का प्रशस्त अर्थ मान्य है :—

> सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
> प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ (गीता अ० १७।२६)

विद्यमानता, अच्छापन और प्रशंसा के योग्य इन तीन अर्थों में सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

उत्पन्न होते हैं। सत्य-रूप प्रिय वचन बोलने में किसी को कष्ट नहीं होता। अपने आत्मा में आह्लाद और दूसरों को भी परम-सन्तोष होता है। अतः असत्य से सदा बचना चाहिए। असत्य के चार भेद हैं। (१) भूत-निह्नव। (२) अभूतोद्भावन। (३) विपरीत। (४) निन्द्य।

१ भूत निह्नव (सत प्रतिषेधन) "जो हो उसको नहीं है" के रूप में कहना। जैसे शास्त्रों में सामान्य मनुष्यों की आयु का अकाल छेद माना गया है, इसका निषेध करके यह कहना कि मनुष्यों की आयु का अकाल घात नहीं होता है। या ऐसा कहना कि परलोक नहीं है। या देवदत्त-घर में मौजूद हो तो भी पूछने वाले को कहना कि वह नहीं है।

२ अभूतोद्भावन—जो नहीं है उसको "है" के रूप में कहना। जैसे—ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं है तो भी उसे जगत् का कर्त्ता कहना। देव मांस भक्षी नहीं हैं तो भी उन्हें मांस-भक्षी कहना। जो वस्तु अपने क्षेत्र, काल, भाव से न हो तो भी उसको पर क्षेत्र, काल, भाव से कहना। जैसे—दालान में घट के न होने पर भी दरवाजे में घट होने के कारण दालान में घट मौजूद बता देना।

३ विपरीत—एक जाति के पदार्थ को दूसरी जाति का कहना अथवा जो वस्तु जिस रूप से है, उसे उस रूप मे न कह कर दूसरे रूप में कहना। जैसे बैल को घोड़ा कहना, पीतल को सोना कहना।

४ निन्द्य—(असत् वचन)—इसके तीन भेद हैं १ गर्हित २ सावद्य और ३ अप्रिय।

१ गर्हित असत्य यथा

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमंजस प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥ (पुरुषार्थ सि०)

१ पैशुन्य गर्हितवचन—दूसरों के दोषों को प्रकट करना (चुगली खाना)

२ हास्यगर्भ—दूसरों के अशुभ राग उत्पन्न करने वाले हँसी, दिल्लगी, मजाक के वचन कहना, या भंड वचनों से भरे अश्लील गीतादि का गाना।

३ कर्कश—तू मूर्ख है, बैल है, नालायक है, बेवकूफ है इत्यादि कहना।

४ असमंजस—देश काल के अयोग्य वचन कहना। जैसे-धर्म स्थानों में पाप जनक बातें करना, विवाह आदि हर्ष के मौके पर शोक की तथा शोक के अवसर पर हर्ष की बात करना या बिना विचारे ऐसी बात कह देना जो दूसरों के तो क्या अपने लिये भी हानि कारक बन जावे।

५ प्रलपित—प्रलाप या बकवाद करना, बिना प्रसंग के या सुनने वाले की रुचि न होने पर भी व्यर्थ बोलना। इसके सिवाय ऐसे अन्य भी वचन जो शास्त्र विरुद्ध हों उनका कहना सब गर्हित वचन है।

२ सावद्य—वचन के सबंध में पुरुषार्थ सिध्द्युपाय में कहा है—

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

अर्थात् काटने, छेदने, मारने, खेती करने, व्यापार और चोरी आदि का उपदेश देने वाले वचन सावद्य हैं। भावार्थ—इस जमीन को खोदो, शीतल जल से स्नान करो, फूल तोड़ो, चांवल रांधलो, हवा करो, यह चोर है पकड़ो, इसे बांध लो, इसकी पूँछ काट लो, इसकी नाक बींध दो, इसको सांकल से बांध दो, हल चला कर बीज बो दो, लोहा खरीद लो, चोरी इस तरह की जाती है इत्यादि वचनों के कहने से जीव हिंसा व आरंभ आदि होते हैं अतः ऐसे वचन सावद्य कहलाते हैं। इनका कहना असत्य में गर्भित है।

३ अप्रिय—

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥ (पुरुषार्थ सि०)

अर्थात्—घबराहट व चित्त में अस्थिरता पैदा करने वाले, भय उत्पन्न करने वाले, खेद, वैर और कलह के कारण एवं अग्नि से भी अधिक जलाने वाले जो वचन हैं वे अप्रिय कहलाते हैं। ये कई प्रकार के हैं। जैसे—

१ परुष वचन—तू अनेक दोषों से भरा है, तू आचार हीन है, भ्रष्टाचारी है इत्यादि मर्म-भेदी वचन।
२ कटुक—जिस से मन में उद्वेग पैदा हो। जैसे—तू चांडाल है, अधर्मी है, पापी है इत्यादि।
३ वैर कारक—वैर उत्पन्न करने वाले शब्दों को बोलना। जैसे—तू चोर है, गधा है इत्यादि।
४ कलह कारक—ऐसा वचन कहना जिससे आपस में लड़ाई-झगड़ा हो जावे।
५ भय कारक—जिसके कहने से दूसरों को भय पैदा हो।
६ त्रासन—जिसके कहने से दूसरों को शोक उत्पन्न हो।
७ अवहेलन—निरादर के वचन कहना। जैसे—तुम को धिक्कार है आदि।

उक्त प्रकार से पूर्वाचार्यों ने अप्रिय वचन के अनेक भेद किये हैं। सत्य महाव्रती को इन सबका मन-वचन-काय से परित्याग करना चाहिए।

कुछ शब्द एव व्यवहार ऐसे भी हैं, जिनमें पूर्वोक्त सत्य का लक्षण घटित नहीं होता अतः उनको असत्य माना जाना चाहिए। किन्तु उन के प्रयोग से किसी भी जीव को दुःख नहीं होता और उनका नाम, स्थापना, देश आदि की अपेक्षा लोक में सत्य मानना भी प्रचलित है। आचार्यों ने ऐसे शब्द एवं व्यवहारों को दश भागों में विभक्त कर उनको सत्य में ही गर्भित कर लिया है। उन दश भेदों का गोम्मटसार एवं अनगार-धर्मामृत की अपेक्षा व्याख्यान निम्न प्रकार है:—

(१) नाम व्यवहार की अपेक्षा जो सत्य हो उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे धन नहीं होने पर भी किसी को धनपाल कहना, जन्म से दुखी मनुष्य को सदासुख कहना आदि।

(२) जन पद सत्य—विभिन्न देशों में वहाँ की भाषा की अपेक्षा जो सत्य माना जाता हो। जैसे—भात (रंधे हुए चाँवलों) को महाराष्ट्र देश मे भेट्टु या भात कहते हैं। आन्ध्रदेशों में वंटक या मुकुडु कहते हैं। कर्णाटदेश में कूलु कहते हैं। द्राविड़ देश में चोर कहते हैं।

(३) स्थापना सत्य—कार्य सिद्धि के लिये किसी वस्तु मे किसी दूसरी वस्तु की 'यह वह है' ऐसी कल्पना करना स्थापना कहलाती है। इसकी अपेक्षा जो सत्य हो उसे स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे—अक्षतादि में 'यह महावीरस्वामी हैं' ऐसा मानना।

(४) संभावना सत्य—संभावना (शक्तिकी सम्भावना) की अपेक्षा जो सत्य हो उसे संभावना सत्य कहते हैं। जैसे—इन्द्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है। आज तक इन्द्र ने न कभी जम्बूद्वीप को पलटा और न पलटेगा। फिर भी उसमे इतनी शक्ति संभव होने से ऐसा व्यवहार करना संभावना-सत्य है।

(५) भाव सत्य—छद्मस्थ ज्ञानी किसी वस्तु की यथार्थ सूक्ष्म अवस्था को नहीं जानता तो भी अहिंसा रूप भाव (गुण या आचार) के पालन के लिए "यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है" इत्यादि कहना। जैसे—जो वनस्पति सूखी हुई हो, या जो जल गरम किया हुआ हो वह प्रासुक है यह भाव-सत्य है।

(६) व्यवहार सत्य—लोक-व्यवहार की अपेक्षा जो सत्य हो उसे व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे—चॉवल पकाओ के स्थान में भात पकाओ ऐसा कहना। ऐसे ही दही जमाओ, आटा पीसो आदि।

(७) प्रतीति-सत्य—किसी अपेक्षा से किसी शब्द का व्यवहार करना। जैसे—यह छोटा है, यह ऊँचा है आदि। कोई भी पदार्थ किसी दूसरें पदार्थ की अपेक्षा ही छोटा-बडा, ऊँचा-नीचा आदि हो सकता है। पदार्थ में यह धर्म स्वाभाविक नहीं है, किन्तु आपेक्षिक है।

(८) उपमा सत्य—किसी प्रसिद्ध पदार्थ की समानता किसी दूसरे पदार्थ में आरोपित करना। जैसे—स्त्री को चन्द्रमुखी कहना।

(९) सवृत्ति या समति सत्य—संवृति अर्थात् कल्पना और संमति अर्थात् सर्व-सम्मत-व्यवहार की अपेक्षा जो सत्य मानाजाय। जैसे—मानुषी होने पर भी राजा की पटरानी को महादेवी कहना। अनेक कारणों से पैदा होने पर भी कमल को पंकज कहना आदि। इन शब्दों का उक्त अर्थों मे प्रयोग करने में किसी को विवाद नहीं है। इसलिए सर्व-सम्मत होने के कारण यह सम्मति सत्य माना गया है।

रूप सत्य—जिस वस्तु में जो रूप (वर्ण) अधिक हो उसकी अपेक्षा से उसका कथन करना। जैसे—चन्द्रबिम्ब में लांछन की कालिमा होने पर भी श्वेत ही कहना, अथवा चित्रको देखकर आकार साम्य होने के कारण यह कहना कि यह अमुक है—यह रूप सत्य है।

आचारसार में नाम सत्य, स्थापना सत्य, रूप सत्य, भाव सत्य, संवृत्ति सत्य, देश सत्य, संयोजना सत्य, जनपदसत्य, प्रतीति सत्य, और समय सत्य, यह १० भेद किये गये हैं। इनका वर्णन वहाँ देखना चाहिए।

असत्य वचन के विषय में सं० भगवती आराधना मे कहा है—

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोहादिसंभवम्।
वितथं वचनं हेयं संयतेन विशेषतः ॥८४२॥
विपरीतं ततः सत्यं काले कार्ये मितं हितम्।
निर्भक्तादिकथं ब्रूहि, तदेव वचनं भृणु ॥८४३॥

ऊपर जो असत्य के भूतनिह्नव आदि चार भेद बतलाये हैं उनके सिवाय अन्य भी ऐसे वचन जो राग, द्वेष, अभिमान, क्रोध और मोहादि रूप आत्म-परिणामों से उत्पन्न होते हैं, वे उन्हीं चारों असत्यों में से किसी न किसी असत्य के भेद में गर्भित हो जाते हैं। अतः संयमी को ऐसे वचनों का विशेष रूप से परित्याग करना चाहिए।

यदि ज्ञान, चारित्र आदि की शिक्षा ग्रहण करने के लिये बोलने की आवश्यकता हो अथवा अपने ही द्वारा हो सकने योग्य परोपकार का प्रसंग हो तो आवश्यक आदि के काल को छोड़ कर, अन्य समय में दूसरों को सन्मार्ग में लगाने के लिये सत्य, हित और मित (बहुत अर्थ वाले किन्तु थोडे) शब्दों द्वारा स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा एवं राज-कथा इन चारों विकथाओं से रहित वाक्य बोलना एवं सुनना चाहिए। पं० आशाधरजी ने लिखा है —

मौनमेव सदा कुर्यादार्यः स्वार्थैकसिद्धये ।
स्वैकसाध्ये परार्थे वा ब्रूयात्स्वार्थाविरोधतः ॥४४॥ (अनगार धर्मामृत अ० ४)

संयमी अपने कल्याण की सिद्धि के लिये सदा मौन धारण करे। यदि कोई परार्थ (परोपकार) अपने ही द्वारा साध्य हो तो इस तरह से बोले जिससे स्वात्म-कल्याण की हानि होने की संभावना न हो। क्योंकि—

"वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत्, भुक्तये न तु मुक्तये ॥"

बहुत से विद्वान् शब्दों की छटा बाँध कर तथा इधर-उधर की कथाओं आदि से अपने बचनों को मनोरंजक बना कर शास्त्रोपदेश में अपनी निपुणता दिखलाते हैं, परन्तु ऐसी विद्वत्ता सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये है, न कि मुक्ति के लिये। सारांश यह कि उपदेश केवल मनोरंजन के लिये न देना चाहिए। परन्तु आत्म-कल्याण के साथ पर-कल्याण हो ऐसा उपदेश देना चाहिए।

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥१५॥ (ज्ञाना० प्र० ९)

यदि धर्म का नाश होता हो, आचार का लोप हो रहा हो, या विपरीत कथन आदि से समीचीन सिद्धान्त का अपलाप किया जा रहा हो तो वहाँ पर विना पूछे भी बोलना चाहिए।

"स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ।
त्वमपृष्टोऽत्र वदान्यत्र, पृष्ट एव सदा वद ॥"

"अपने या पर के धर्म कार्य में हानि पहुँचती हो तो विना पूछे भी बोलो। अन्यथा पूछने पर ही बोलो।

"हत्वा हास्यं कफवल्लोभमपास्यामवद्भयं भित्वा ।
वातवदपोह्य कोपं पित्तवदनुसूत्रयेद्गिरः स्वस्थाः ॥"

कफ की तरह हास्य को, आम (पेट की आँव) की तरह लोभ को, वात की तरह भय को और पित्त की तरह क्रोध को नष्ट करके स्वस्थ अर्थात् प्रमाद रहित होकर शास्त्र के अनुकूल वचन बोलना चाहिए।

सत्य की प्रशंसा

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम् ।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥२७॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—सत्यव्रत; व्रत, ज्ञान और यमों का स्थान है, विद्या और विनय का भूषण है, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र का बीज है। अर्थात् सत्य का पालन हुए बिना सम्यग्ज्ञान और चरित्र की उत्पत्ति ही नहीं होती।

न तथा चन्दनं चन्द्रो मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुसां, यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥२०॥ (ज्ञाना०)

मनुष्य को मधुर एवं प्रिय शब्दों के सुनने से जैसा सुख होता है वैसा सुख चंदन लगाने, चन्द्र किरणों के सेवन करने, मोतियों के हार एवं चमेली के गजरों को पहनने से भी नहीं होता।

सत्यवादियों के सब विद्याएँ और मंत्र सिद्ध हो जाते हैं। देव उनके वशीभूत होते हैं। अग्नि व जल से भी उनकी रक्षा होती है। वे समस्त जगत के विश्वास पात्र बनते हैं। सभी की उन पर प्रीति होती है। उनका यश सर्वत्र फैलता है। जनता सत्यवादी को माता के समान विश्वास पात्र, गुरु के तुल्य पूज्य और बंधुओं के सदृश समझती है। यदि पुरुष में अन्य कोई भी गुण न हो, परन्तु वह सत्यवादी हो तो दुनियाँ उसकी बात का आदर करती है।

जब तक मनुष्य अपने मुख से भाषण नहीं करता, तब तक यह नहीं जाना जाता है कि यह विद्वान् है या मूर्ख, कुलीन है या अकुलीन। ये सब बातें वचनों के द्वारा ही जानी जाती हैं।

न जार-जातस्य ललाटशृंगं कुलप्रसूतस्य न पाद-पद्मं ।
यदा यदा मुंचति वाग्विलासं तदा तदा तस्य कुलप्रमाणं ॥

अर्थात् जो जारजात—नीच पुरुष होता है, उसके पैदा होने के समय सींग नहीं होते हैं तथा उत्तम पुरुष के पैदा होते समय उसके पैरों में पद्म नहीं होता, परन्तु उसकी पहचान उसके वचनों के सुनने से ही हो जाती है कि यह कुलीन है अथवा अकुलीन है। जितना भी विश्वास होता है, या संसार में लेने देने आदि का व्यापार चलता है वह सब इस सत्य के आधार पर ही चलता है।

धन्य है सत्य को, जिस के प्रभाव से एक अधम पुरुष भी माननीय हो जाता है। विशेष क्या, व्यवहार में और मोक्ष मार्ग में भी यह सत्य पूज्य एवं पवित्र माना गया है। इस सत्य के महात्म्य से ही साधुओं को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जिनका कि नाम लेकर संसार अपने को धन्य मानता है।

भवभयविचयनवितथविमोची,
निरुपमसुखकरजिनमतरोची ।
परमं दवयति कलिलमशेषं,
वशयति मुनि-नुत वचन विशेषम् ॥ (ज्ञानार्णव)

जो अनुपम सुखदायक जिन वचनों में प्रीति करने वाला सज्जन, संसार के भयों को बढ़ाने वाले असत्य वचन का त्याग करता है वह समस्त घोर पाप का नाश करता है, और मुनियों से वंदनीय वचन की सिद्धि को प्राप्त होता है ।

असत्य की निन्दा

न सास्ति काचिद्व्यवहारवर्तिनी, न यत्र वाग्विस्फुरति प्रवर्तिका ।
ब्रुवन्नसत्यामिह तां हताशयः करोति विश्वव्यवहारविप्लवम् ॥११॥

जगत में सब धर्म, कर्म, रूपी व्यवहार वचन के द्वारा ही होते हैं। इसलिये जो दुष्ट असत्य वचन बोलता है वह दुनियाँ के व्यवहार को मिटाता है । (ज्ञानार्णव प्र० १८)

नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञा प्रच्युतोऽधमः ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिष्यति ॥२५॥

मनुष्य जन्म ही ऐसा है जिस में वचन के द्वारा स्व-पर कल्याण किया सकता है, अतः जो मनुष्य होकर भी असत्य भाषण करता है, वह फिर किस पुण्य के द्वारा संसार रूपी कीचड़ से निकलेगा ? (ज्ञानार्णव प्र० १८)

मूकता मतिवैकल्यं मूर्खता बोधविच्युतिः ।
बाधिर्यं मुखरोगित्वमसत्यादेव देहिनाम् ॥३४॥

असत्य बोलने के पाप से गूंगापन, मन्द बुद्धि, मूर्खता, अज्ञानता, बहरापन, और मुख-रोगादि अनिष्ट होते हैं। (ज्ञाना०)

या मुहुर्मोहयत्येव विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।
विषमं विषमुत्सृज्य, साऽवश्यं पन्नगी च गीः ।

कान में जाकर ऐसा जहर उगलने वाली वाणी, जिससे कि मनुष्य मोहित (बेहोश) हो जाता है वह गी (वाणी) नहीं, किन्तु पन्नगी (सर्पिणी) है । (ज्ञानार्णव सर्ग १८)

असत्यवादी पुत्र का, माता भी विश्वास नहीं करती । यदि कोई एक बार भी झूठ बोल दे तो उसकी कही हुई सब सत्य बातें भी झूठी समझी जाती हैं और लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं । असत्यवादी यदि यम, नियम और तप का धारक हो तो भी तृण के समान लघु बन जाता है । जैसे वृद्धावस्था यौवन की नाशक है, वैसे ही असत्य से सब गुणों का नाश हो जाता है । असत्य वचन के द्वारा महान् पाप का आस्रव होता है । निष्पाप राजा वसु यज्ञ की हिंसा के पोषक एक झूठ के बोलने से ही नरक चला गया । इस लोक में भी झूठे को राज्य और पचों से दंड मिलता है । असत्यवादियों ने अनेक कपोल-कल्पित खोटे शास्त्र बना बनाकर जगत के जीवों को गहरे अज्ञानान्धकार में फँसा दिया है । असत्यवादी के मुख में जगत् को दुःख देने वाली झूँठ रूपी सर्पिणी निवास करती है ।

असत्यवादी का मुख नगर के गन्दे पानी को बहाने वाली नाली के समान है । नाली से मैला व बेकार पानी बहता है उसी तरह उसके मुख रूपी नाले से पाप से मलिन और व्यर्थ के वचन निकलते हैं ।

दुर्वचन रूपी अग्नि से जिसका हृदय रूपी वन भस्म हो जाता है वह कभी हरा-भरा नहीं होता । सार यह है कि कोई कभी किसी को दुर्वचन कह दे तो उसका मन इतना दुःखी होता है जितना कि शस्त्र के घात से भी नहीं होता । और वह दुर्वचन रूपी शस्त्र का घात उसको जीवन पर्यंत सताता है । दुर्वचन द्वारा बंधा हुआ वैर पीढ़ियों तक चला जाता है । प्रायः सब झगड़ों की जड़ दुर्वचन ही हैं । कुत्ते को तो लोग फिर भी पालते हैं परन्तु झूठ बोलने वाले को कोई भी नहीं रखना चाहता । इसलिये असत्यवादी, कुत्ते से भी खराब है । अन्य सब गुणों का नाशक है । अविश्वास, अकीर्त्ति, दुःख, अरति, कलह, वैमनस्य, वध, बंधन, स्वजन विरोध ये सब असत्य के ही पास रहते हैं ।

सत्य महाव्रत की पांच भावनाएँ

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च" (तत्वार्थ सूत्र अ० ७ सूत्र ५)

१ क्रोध का त्याग—जिस समय क्रोध आता है, उस समय मनुष्य का विवेक जाता रहता है । वह अंधा होकर झूठ बोल देता है, अतः सत्य की रक्षा के लिये क्रोध को उत्पन्न न होने देना चाहिए ।

२ लोभ त्याग—लोभी मनुष्य धन की प्राप्ति आदि के लिये झूँठ बोलता हुआ भी नहीं हिचकता है । अतः इस लोभका त्याग करना चाहिए ।

३ भीरुत्व त्याग—प्राय देखा जाता है कि मार पीट के डर से या नौकरी आदि आजीविका चले जाने के भय से मनुष्य झूँठ बोलता है । इसलिए सत्य व्रत की रक्षा के लिए भय का भी त्याग करना चाहिए ।

४ हास्य त्याग—हँसी, दिल्लगी, मजाक के करने में झूँठ बोली जाती है। अतः हास्य करना भी उचित नहीं है।
५ अनुवीचि भाषण—बिना विचारे वा शास्त्र-विरुद्ध बोलना असत्य भाषण है। अतः विचार कर एवं शास्त्रानुसार बोलना चाहिए।

जैनेतर मतों में सत्य की प्रशंसा व असत्य की निन्दा

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२५६।४॥ (मनु०)

सब अर्थ वचन के अधीन हैं, वचन ही उनकी जड़ है, और वे वचन से ही निकलते हैं। जो मनुष्य वचन को चुराता है वह उन अर्थों को चुराने वाला होने से सब पदार्थों का चोर होता है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥२५५।४॥ (मनु०)

जो अपना असली रूप छिपा कर अपने को अन्य प्रकार से सज्जनों के बीच प्रकट करता है वह संसार में अपनी आत्मा को चुराने वाला चोर एवं महा पापी कहलाता है।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥४७।६॥ (मनु०)

यदि कोई अपनी निन्दा करे तो उसे सहन करो, दुर्वचन द्वारा किसी का निरादर न करो, और इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को पा कर किसी के साथ वैर न करो। भावार्थ—यदि दूसरा गाली दे तो खुद गाली न दो, और वचन द्वारा किसी से वैर न बांधो।

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥४८।६॥ मनु०)

क्रोधी पर क्रोध मत करो। यदि कोई गाली दे तो उसको भी मधुर वचन कहो। पाँचों इन्द्रियों, मन और बुद्धि इन किसी से भी झूँठी बातें मत करो।

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥९४।८॥ (मनु०)

यदि कोई धर्म का निश्चय करने के लिये प्रश्न पूछा जावे तो उसका असत्य उत्तर न दे क्योंकि धर्म का मिथ्या स्वरूप बतलाने वाला पापी, नीचा मुँह किये, महाघोर अन्धकार वाले नरक में गिरता है।

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रार्तोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्रवक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥१०४॥ (मनु०)

जहाँ सत्य के कहने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र इन चारों वर्णों के मनुष्यों का प्राणघात हो अर्थात् सत्य बोलने से किसी को फाँसी लगती हो या अन्य प्रकार से प्राण जाते हों तो वहाँ झूठ बोलना भी सत्य से बढ़कर है।

पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मलं स्याच्चतुर्विधम् ॥६।१२॥ (मनु०)

कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली खाना, बिना मतलब वे सिलसिले बकना ये चार प्रकार का वचन के द्वारा होने वाला पाप है।

अपनी उन्नति के लिये झूँठ बोलना ब्रह्म हत्या के समान है (११।५५) झूँठी गवाही देना मदिरा के समान है (११।५६) असत्यवादी कभी सुख का भागी नहीं होता (४।१७०।) जो चुगलखोर व असत्यवादी है उसका अन्न नहीं खाना चाहिए (४।२१४) असत्य बोलने से यज्ञ का नाश हो जाता है (४।२२७) "सत्यपूतां वदेद्वाचं" सत्य से पवित्र किया हुआ वचन बोलना चाहिए, दश धर्मों में सत्य भी धर्म का एक लक्षण है। (६।९२) (मनुस्मृति)

दश धर्मों में सत्य एक यम है (अत्रिस्मृति १।४८), "सत्यां हितां वदेद्वाचं परलोकहितैषिणीम्" ब्राह्मण को चाहिये कि सत्य, हित रूप और परलोक में कल्याणकारक वचन बोले (हारीतस्मृ० १।३०) सत्य वचन कहना ब्राह्मण का लक्षण है (वशिष्ठ स्मृ० ६।२१) चुगली न खाना और पर-निन्दा न करना सब का धर्म है (वशिष्ठ स्मृ० १०) झूँठ बोलने वाला एवं चुगली खाने वाला शूद्र है, झूँठ बोलना विकर्म है (दक्षस्मृति १३।११-१२) चुगलखोर कर्म चाण्डाल का है (वशिष्ठ स्मृ० १३।११-१२)

ब्रूहि साक्षिन्यथातत्त्वं लम्बन्ते पितरस्तव ।
तव वाक्यमुदीरयन्तमुत्पतन्ति पतन्ति च ॥

हे साक्षिन्! तू किसी की झूँठी गवाही मत दे, क्योंकि तेरे पितृजन आकाश में झूल रहे हैं। यदि तू सत्य बोलेगा तो वे ऊपर चले जावेंगे, अगर झूँठ बोलेगा तो नीचे गिर जावेंगे, यह याद रख। (वशिष्ठ स्मृति अ० १६ पृष्ठ ५८०)

इति सत्य महाव्रतम्

अचौर्य महाव्रत ।

अब तीसरे अचौर्य महाव्रत का वर्णन किया जाता है। चौर्य का अर्थ है चुरा लेना, लोभ आदि प्रमादों के वश होकर दूसरे की किसी भी वस्तु को बिना दिये ही ले लेना। और ऐसा करने का सर्वथा त्याग कर देना कहलाता है अचौर्य महाव्रत। श्री वट्टकेर स्वामी ने मूलाचार में लिखा है:—

गामादिसु पडिदाइं अप्पपहुदिं परेण संगहिदं ।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥ (मूलाचार ७)

गाँव, नगर, बाग-बगीचे, पर्वत, वन, सूनाघर व मार्ग आदि में किसी के गिरे हुए, गुमे हुए, धरे हुए अथवा धर करके भूले हुए रत्न, स्वर्ण, वस्त्र आदि का या किसी के पास में अधिकार में रहे हुए क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, पुस्तक, कमंडलु, शिष्य आदि अल्प या बहुत, स्थूल या सूक्ष्म द्रव्यों का किसी की आज्ञा या किसी के दिये बिना उठाना या काम में लाना आदि का मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से त्याग करना (बिना दिये हुए किसी भी द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा न होना) अदत्त-त्याग (अचौर्य) महाव्रत है।

जिस वस्तु पर किसी दूसरे की मालिकी हो, वह वस्तु चाहे तृणवत् तुच्छ या बिलकुल मूल्य रहित ही क्यों न हो, उसके मालिक के दिये बिना प्रमाद के वश हो उसे ले लेना चोरी है—यह लोक-प्रसिद्ध है। केवल आत्मा को ही अपना अनुभव करने और समस्त ससार (संसार की वस्तुओं) को पर समझकर उनका त्याग कर चुकने वाले योगी के लिये ससार की कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। अतः इस संसार के किसी भी पदार्थ को अपनाना, बिना दिये मिट्टी या छोटा-सा तिनका लेना भी उनके लिये चोरी है। जिस तरह से लोक में चोर बाँधा जाता है और दण्डित किया जाता है उसी प्रकार छोटी-बड़ी, स्थूल-सूक्ष्म दुनियाँ की किसी भी वस्तु को अपनाने वाला योगी भी कर्मों से बाँध लिया जाता है और दण्डित किया जाता है।

अन्यान्य पापों की तरह चोरी से भी आत्मा का पतन होता है। चोरी में प्रवृत्त होने वाले की इन्द्रियाँ और मन सदा चंचल रहता है। तिनके के हिलने पर भी उसे डर लगता है। दिल धड़कने लगता है। उसकी वृत्तियाँ ऐसी खराब हो जाती हैं कि ससार के किसी भी नीच कार्य से उसे घृणा नहीं होती। वह निर्दय बन जाता है। किसी को मारने में भी उसे दया नहीं आती। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है :—

येऽप्यहिंसादयो धर्मास्तेऽपि नश्यन्ति चौर्यतः ।
मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः ॥
अर्थाः बहिश्चराः प्राणः प्राणिनां येन सर्वथा ।
परद्रव्यं ततः सन्तः पश्यन्ति सदृशं मृदा ॥

भाव यह है कि चोरी करने से कोई नवीन गुण तो कदापि पैदा होता ही नहीं, बल्कि पहले से मौजूद अहिंसा आदि धर्म उल्टे नष्ट और हो जाते हैं। लोभ के उदय से पर द्रव्य के ग्रहण की इच्छा होते ही अपने परिणामों की हिंसा (स्व-भाव-हिंसा) होती है। और जिसकी कोई वस्तु—

धनादिक चुराये जाते हैं उसकी आत्मा को दारुण दुःख होता है, अतः पर-भाव-हिंसा भी होती है। क्योंकि धन मनुष्यों को प्राणों से भी प्यारा होता है इसलिए इसे बाह्य-प्राण कहा गया है। जिसने धन को हरा, उसने मानो प्राण ही हरे। इसलिए बहुधा जिनका धन आदि चुरा लिया जाता है वे लोग पागल तक होजाते हैं, कभी-कभी आत्म-घात तक कर लेते देखे जाते हैं। इसलिए इससे पर-द्रव्य-हिंसा भी होती है और राज्य आदि से दण्डित होने पर अपने प्राण चले जांय तो चोरी स्व-द्रव्य-हिंसा का भी कारण बन जाती है। कैसी भी हिंसा हो, चोरी से हिंसा हुए बिना नहीं रहती। चोरी प्रमाद-योग के बिना नहीं होती और जहाँ प्रमाद-योग है वहाँ हिंसा अवश्यम्भावी है। हिंसा से बचा नहीं जा सकता। इसी तरह और भी जितने गुण हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है :—

गुणाः गौणत्वमायन्ति, यान्ति विद्या विडम्बनाम्।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्याधते पदम् ॥

भाव यह है कि चौर चाहे जितना ही गुणवान क्यों न हो, एक चोरी के दुर्गुण से उसके सब गुण गौण बन जाते हैं, विद्या पढ़ा-लिखा हो तो उसकी वह विद्या उपहास की चीज बन जाती है और उसके सिर पर कलक का टीका लग जाता है। इसलिए चोर की संगति भी बुरी है। इससे महापुरुष भी लघु बन जाते हैं और गुणवानों को भी नीचा देखना पड़ता है। अन्यान्य अवगुण वालों के तो सहायक भी मिल जाते हैं, पर चोरी करने वाले का कोई हिमायती नहीं होता। अन्य दोषों से दूषित व्यक्ति को कोई भी घर में रख लेता है, परन्तु चोर को तो उसकी माता भी स्थान नहीं देती। उस पर कोई दया भी नहीं करता, बल्कि तृणवत् तुच्छ समझ कर उसे हर कोई मारने-पीटने लगता है। इसलिए चोरी को निन्द्य जानकर, अतुल सुख की सिद्धि के लिए; धर्म, यश और चरित्र की रक्षा के लिए, इस लोक और परलोक मे हित साधन के लिए चोरी का विचार भी चित्त में नहीं लाना चाहिए।

अचौर्य व्रत की स्थिरता के लिए ५ भावनाएँ

तत्त्वार्थसूत्रादि में इस अचौर्य महाव्रत की स्थिरता के लिये निम्न प्रकार से ५ भावनाएँ बतलाई गई हैं :—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्म्माविसंवादाः पञ्च। (अ० ७ सू० ६)

१ शून्यागारावास—सूने घर व स्वभाव से शून्य पर्वत की गुफा व वृक्ष के कोटर आदि में रहना।

२ विमोचितावास—किसी के छोडे हुए (ऊजड़) घर मे रहना।

३ परोपरोधाकरण—यदि कोई व्यक्ति अपने रहने योग्य स्थान में पहले से रह रहा हो या ठहर रहा हो तो उसे उस स्थान को छोड़ कर चले जाने के लिये न कहना और जो ठहरना चाहता हो उसे रहने के लिये मना नहीं करना।

४ भैक्ष्यशुद्धि—मुनिधर्म के निरूपक आचार शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार शुद्ध आहार लेना।

५ सधर्मांविसंवाद—अपने सधर्मा मुनि आदि से यह वसतिका (रहने का स्थान), शास्त्र, कमंडलु आदि मेरे हैं, ये तुम्हारे हैं इत्यादि रूप मे विसवाद (विवाद या कलह) न करना।

श्री अमितिगति आचार्य कृत भगवती आराधना (संस्कृत) में निम्न भावनाएँ बतलाई हैं,

असम्मताग्रहः साधोः सम्मतासक्तबुद्धिता ।
दीयमानस्य योगस्य गृहीतिरुपकारिणः ॥१२४७॥
अप्रवेशोऽननुज्ञाते योग्या याञ्चा विधानतः ।
तृतीये भावना पंच प्राज्ञैः प्रोक्ता महाव्रतैः ॥१२४८॥

१ असंमताग्रह—ज्ञानोपकरण आदि के स्वामी, यदि यह न कहें कि आप इसको ग्रहण कीजिये तो उस उपकरण को न लेना।
२ संमतानासक्ति—स्वामी के द्वारा अपनी इच्छा से दिये गये उपकरण में भी आसक्ति (ममत्व) न रखना।
३ योग्य ग्रहण—यदि कोई आवश्यकता से अधिक शास्त्र आदि देता हो तो 'मुझे इतना ही चाहिए' ऐसा कह कर अधिक न लेना।
४ अननुज्ञातगृहाप्रवेश—यदि घर के स्वामी की आज्ञा न हो तो उस घर में गोचरी के समय भी प्रवेश नहीं करना।
५ योग्य याचन—ज्ञानादि के उपकरण के बिना अपने ज्ञान व चरित्र की सिद्धि में हानि पहुँचती हो तो उनकी याचना करना। इस प्रकार ५ भावनाएँ बतलाई गई हैं।

आचारसार मे "अननुज्ञातगृहाप्रवेश" को दूसरी भावना मे ही गर्भित करके उसके स्थान में सधर्मांविसंवाद नामक भावना दी है।

प्रतिक्रमण-शास्त्रों में अन्य प्रकार से ५ भावनाएं कही गई हैं—

१ भक्त संतुष्टता—जो भोजन मिल जावे उसी में संतुष्ट रहना।
२ पान संतुष्टता—जैसा वा जितना जल आदि पीने योग्य द्रव्य मिल जावे, उसी में सन्तोप करना।
३ अस्तगृद्धिता—शरीर में अशुचित्व व अनित्यत्व का चिंतवन करते हुए ममत्व न रखना।
४ अपसंगता—शास्त्र आदि प्रयोजन की वस्तु को छोड़ कर अन्य पदार्थों की वांछा नहीं रखना।
५ देहना—यह शरीर मेरी आत्मा से भिन्न है, लेप जैसा है। अत कर्मों से किया हुआ यह भारीपन मेरा उपकारी नहीं। ऐसा विचार करते रहना।

उक्त प्रकार से अचौर्यव्रत की ५ भावनाओं के विषय में यद्यपि भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न प्रकार से कथन हैं। तथापि सबका मुख्य उद्देश्य अस्तेय महाव्रत की स्थिरता के साधन रूप ही है। अतः इसमें विशेप ऊहापोह की आवश्यकता नहीं।

अन्य उपदेश

अदत्तादान परित्याग के लिये उक्त भावनाओं के अतिरिक्त अन्य रूप से भी मुनियों को विविध उपदेश दिये गये हैं। जैसे कि

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुष्णं वा परादियं घेत्तुं ।
दंतंतरसोधणयं कलिंबमेत्तंपि अविदिण्णं ॥८५३॥ (भग० आ०)

हे मुनि । तू बहुत या अल्प वस्तु दूसरे की बिना दी हुई लेने के लिये बुद्धि मत कर। और तो क्या, दाँतों के बीच में से अन्नादिक को निकालने वाली घास की सींक भी बिना दी हुई मत ले।

यदि संयमी पुरुष किसी का बिना दिया हुआ तृण भी ले ले तो उसका लोक में विश्वास उठ जाता है और वह तृण से भी लघु (हलका) हो जाता है। अर्थात् कोई भी उसका आदर नहीं करता है। इसलिये,

इन्द्रराजगृहस्वामिदेवतासमधर्मिभिः ।
वितीर्णं विधिना ग्राह्यं रत्नत्रितयवर्धकम् ॥८८७॥

रत्नत्रय की वृद्धि करने वाले व मुनिपद के योग्य शास्त्र, मयूर–पिच्छिका, कमंडलु, वसतिका आदि की भी आवश्यकता हो तो इन्द्र, राजा, घर का स्वामी, देवता व सधर्मा (मुनि) आदि के द्वारा विधिपूर्वक ही लेने चाहिए।

इस विषय में विशेष नियम यह है कि यथावसर आवश्यकता होने पर मुनि निम्न चार पदार्थ बिना स्वामी की आज्ञा के ग्रहण कर सकते हैं, पर उसमें प्रमत्तयोग नहीं होना चाहिए। (१) पिच्छी (२) सूखी तुम्बी (३) छाणों की राख (४) ऊपर से पड़ता हुआ झरने का जल। इस बात की पुष्टि विद्यानन्दिस्वामी ने श्लोकवार्तिक के सातवें अध्याय में की है। यथा—

प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तादानमात्मनः ।
स्तेयं तत्सूत्रितं दानादानयोग्यार्थगोचरम् ॥१॥
तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः ।
सरिन्निर्झरणाद्यम्भः शुष्कगोमयखंडकम् ॥२॥
भस्मादि वा स्वयंमुक्तपिच्छालाबूफलादिकम् ।
प्रासुकं न भवेत् स्तेयं प्रमत्तत्वस्यहानितः ॥३॥

सूत्रकार ने प्रमाद के वश अदत्त वस्तु के ग्रहण करने को जो स्तेय (चोरी) बतलाया है, वह देने व लेने के योग्य वस्तु के लिए ही समझना चाहिए। इसलिये सामान्य रूप से अदत्त वस्तु का ग्रहण नहीं करने वाले मुनीश्वर झरने का जल (शौच आदि के निमित्त), सूखे गोबर का टुकड़ा तथा अपने आप गिरा हुआ मोर आदि का पिच्छ तथा पड़ी हुई सूखी तुम्बी आदि को अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी की आज्ञा के भी ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि उनके लेने में प्रमाद का सद्भाव नहीं है।

अन्यमत के प्रमाणों से अचौर्य की पुष्टि

यति को चाहिये कि वह सदा अस्तेय का पालन करे अर्थात् कभी किसी की चोरी न करे। (विष्णु स्मृति ४।४)

योग दर्शन मे अस्तेय को पाप माना है और "अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं" इस १२८वें सूत्र के अनुसार यह फल दिखाया गया है कि जिस योगी के अस्तेय महाव्रत का पालन पूर्णरूप से हो जाता है, उसके पास सब रत्न स्वयं ही आ जाते हैं।

परदारान्परद्रव्यं हरते यो दिने दिने ।
सर्वतीर्थाभिषेकेण पापं तस्य न नश्यति ॥ (व्यास स्मृति ४।५)

जो प्रति दिन पर-स्त्री व पर-द्रव्य का हरण करता है उसका पाप सब तीर्थों में स्नान करने से भी नष्ट नहीं होता ।

दक्ष स्मृति में (१५वें अध्याय मे) चोरी को विकर्म बतलाकर उसके त्याग का उपदेश दिया है।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥ (वशिष्ठ स्मृति अ० ३)

आग लगाने वाला, जहर देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने वाला, पर के धन, क्षेत्र और स्त्री को हरण करने वाला ये छह आततायी हैं।

मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में बिना दिये हुए द्रव्य को लेने की इच्छा को भी मन का अशुभ कर्म बतलाया है। अदत्त द्रव्य को ग्रहण करना शारीरिक अशुभ कर्म बतलाया गया है और नवें अध्याय मे कहा है कि,

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥१२॥

शारीरिक दोषों से मर कर स्थावर, वचन के दोषों से पक्षी व मृग और मन से उत्पन्न हुए पाप के फल से अन्त्यज होता है।

यानशय्यासनान्यत्र कूपोद्यानगृहाणि च ।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥२०२॥ (अ० ४)

जो किसी वाहन, पलंग, आसन, कुए, बगीचे और घर को बिना दिये हुए काम में लेता है, वह उन वस्तुओं को बनाने वाले के पाप के चौथाई भाग का भागी होता है।

ब्रह्मघ्नश्च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
महापातकिनस्त्वेते तत्संयोगी च पञ्चमः ॥ (संवर्त स्मृ० ११२)

ब्रह्मघाती, मदिरा पान करने वाला, गुरु की स्त्री से व्यभिचार करने वाला और इनका सहयोगी (सहागता व सलाह देने वाला) ये पाँचों महा पातकी हैं।

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि च लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतानि य- पश्यति सः पश्यति ॥ (आपस्तम्ब स्मृति १०।११)

जो पर स्त्री को माता के समान, पर द्रव्य को ढेले के समान और सब जीवों को अपने समान समझता है, वही अपने कल्याण को समझने वाला (ज्ञानी) है।

इति अचौर्य महाव्रतम् ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

संसार के सभी धर्म-ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की गई है। कोई भी समझदार इसका महत्व स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। ब्रह्मचारी को महान पद प्राप्त होता है और विविध सिद्धियाँ उसके सामने आ खड़ी होती हैं। सीता आदि महासतियों की महत्ता का कारण भी उनका निश्चल ब्रह्मचर्य ही था। इस व्रत की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है ।

ब्रह्मचर्य को अच्छी तरह समझने के लिए उसके दो भेद करने चाहिए। लौकिक ब्रह्मचर्य और आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य। आध्यात्मिक पक्ष में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है—आत्मा*। उस अपने आत्मा में चर्या अर्थात् रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यही लिखा है:—

निरस्तान्याङ्गरागस्य, स्वदेहेऽपि विरागिणः ।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या, ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ (अन० टीका अ० ४)

स्त्री आदि पर के शरीर से राग छोड़ कर, अपने शरीर से भी विरक्त रहने वाले के अपने आत्मा में जो चर्या (लीनता) होती है, वह ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

उक्त दृष्टि से किसी भी पर पदार्थ से प्रेम करना या उसमें उपयोग लगाना ही व्यभिचार है।

लौकिक ब्रह्मचर्य का अर्थ है, स्त्री मात्र या पुरुष मात्र के संसर्ग का पूर्णतः त्याग।

लौकिक ब्रह्मचर्य को पूर्णतः प्राप्त किये बिना कोई भी आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य को नहीं पा सकता। जिन्होंने विकारों पर विजय नहीं पाया है, वे स्त्री या पुरुष एक दूसरे को देखकर परस्पर आकर्षित होते हैं। इस आकर्षण का असर उनके शरीर पर ही नहीं, मन और आत्मा पर भी होता है। मन में विकार भावों का उदय होते ही शरीरस्थ धातु-उपधातु चंचल हो उठते हैं। इस तरह मैथुन के संकल्प से शरीर भी जब अपनी ठीक स्थिति

---

* आत्मनि ज्ञाने तत्वे वृत्ते ताते च भरतराजस्य।
ब्रह्मेति गीर्निगीता न चाऽपरो विद्यते ब्रह्म ॥ (यशस्तिलकचम्पू)

आत्मा, ज्ञान, तत्व, चारित्र और ऋषभदेव तीर्थंकर इन पाँच अर्थों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है।

में नहीं रहता है, तब आत्मा तो अपने स्वरूप में लीन रह ही कैसे सकता है। इसलिए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने के इच्छुक पुरुष को सब से पहले स्त्री मात्र से और स्त्री को पुरुष मात्र से राग-भाव हटा लेना चाहिए।

स्त्री या पुरुष के परस्पर आकृष्ट होने का कारण यह है कि प्रत्येक प्राणी के साथ आहार, भय और परिग्रह संज्ञा की तरह अनादि काल से मैथुन संज्ञा भी लगी हुई है⁂। वेद × नाम के चारित्र मोहनीय कर्म की उदीरणा होने पर प्रत्येक प्राणी मैथुन संज्ञा के वशीभूत होकर मैथुन कर्म में प्रवृत्त हो बैठता है।

भाव वेद प्रणय में अन्तर्भूत हैं और यह प्रणय अन्यान्य प्रमादों की तरह आत्मा के सक्लेश परिणामों का कारण है। इससे विभाव परिणति होती है और आत्मा स्वस्थ (अपने शुद्ध भावों में स्थित) नहीं रहता। अतः ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए सर्व प्रथम विकारों पर विजय पाना अनिवार्य है। मानसिक विकारों पर विजय पाये बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिसका मन वश में है, जो जितेन्द्रिय है, उसके शरीर मे कोई विकार नहीं होगा। शरीर से सबल हृष्ट-पुष्ट होकर भी वह ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेगा और जिसका मन वश में नहीं है; उसका शरीर वृद्ध, सरोग, निर्बल या जीर्णप्राय होगा तो भी उसका ब्रह्मचर्य भंग हुए बिना नहीं रहेगा। मन के वश में हुए बिना इन्द्रियों की चंचलता मिटती नहीं। कहा भी है—

"इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥"

⁂स्त्री-पुरुषों की रति-सुख के लिये जो परस्पर प्रवृत्ति होती है, उसे मैथुन कहते हैं।' उसके सम्बन्ध में संज्ञा (वांछा) का होना मैथुन संज्ञा कहलाती है। श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है—

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥१३७॥

अर्थात् बल-वीर्य-वर्द्धक पदार्थों के खाने से, कामसेवन की ओर विचारों के चले जाने से, व्यभिचारी पुरुषों की संगति से या वेद-कर्म की उदीरणा से मैथुन संज्ञा प्रकट होती है। इसकी प्रकटता होने पर कोई स्वस्थ कैसे रह सकता है?

× वेद के तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। यह तीनों वेद दो-दो प्रकार के बताये गये हैं—द्रव्यरूप और भावरूप। नाम कर्म के उदय से होने वाले शरीर के चिह्न विशेष को द्रव्यवेद और परस्पर रमण की इच्छा विशेष को भाव भेद कहते हैं।

नाम कर्म के उदय से नारकी और सम्मूर्च्छन जीवों के शरीर में नपुंसक द्रव्य वेद की; देवों के शरीर में पुंवेद व स्त्री वेद की और शेष—गर्भज, अण्डज व पोत—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीरों में द्रव्यरूप तीनों वेदों की रचना होती है।

इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर लगाने तथा उनसे हटाने में मन ही प्रधान है। इसलिए जो इन्द्रियों को अपने वश में करना चाहता है, उन्हें कुमार्ग में जाने से रोकना चाहता है, उसे चाहिए कि वह मन को जीते, अपने वश में करे। मन को जीतने से ही मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है।

और भी कहा है—

"ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः ।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तु मिन्द्रियवाजिनः ॥"

अर्थात्—इन्द्रिय रूपी घोड़े बड़े चंचल हैं। यह हमेशा ही उन्मार्ग की ओर जाना चाहते हैं। उन्हें और कोई वश में नहीं कर सकता। एक वही मनुष्य उनको वश में कर सकता है, जिसने अपने मन को जीत लिया है। उसी के पास ज्ञान और वैराग्य रूपी दो रस्सियां (लगामें) ऐसी हैं कि उनका उपयोग करके वह यदि चाहे, तो उन्मार्ग से उन्हें ठीक रास्ते पर ला सकता है।

इससे सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य की प्राप्ति के लिये सबसे पहले मानसिक संकल्प को सुधारना आवश्यक है। हृदय में से काम सम्बन्धी विचारों को निकाल देना अनिवार्य है। यदि कोई स्त्री दिखाई दे तो उसे भोग की वस्तु समझना ठीक नहीं, उसे स्त्री (पत्नी) की बुद्धि से देखना उचित नहीं। उसे देख कर माता, बहिन या पुत्री ऐसी पवित्र भावना उसके सम्बन्ध में जागृत होनी चाहिए।

मूलाचार में ब्रह्मचर्य महाव्रत का यह स्वरूप बतलाया है :—

मादसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं ।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपूज्जं हवे बंभं ॥८॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थात्—अपने से अधिक अवस्था वाली स्त्री को माता के समान, अपनी जैसी अवस्था वाली स्त्री को बहिन के समान और अपने से छोटी को पुत्री के समान देखना तथा देवी, मानुषी, तिरश्ची (तिर्यंचनी) की मूर्ति तथा चित्राम आदि देखकर उसमें भी वैसे ही भाव रखना और स्त्री-कथा आदि कामोत्तेजक प्रसंगों का त्याग करना यही त्रिलोक पूज्य ब्रह्मचर्य कहलाता है। उक्त लक्षण में जो बड़ी, छोटी व समान अवस्था वाली स्त्रियों को माता, बहिन, व पुत्री की दृष्टि से देखने का तथा स्त्री-कथा, स्त्रियों के संबंध की बातें करना व सुनना, स्त्री के मधुर वचन सुनना, सुन्दर रूप का देखना, नाच देखना, स्त्री का चित्र आदि देखना आदि सभी राग जनक प्रवृत्तियों के त्याग का उपदेश दिया गया है वह सब मन को रोकने के लिये ही है। क्योंकि मन बड़ा चंचल है वह उत्पथ में न जाने पावे इसके लिए जितने भी प्रयत्न हो सकते हैं उनमे कोई बाकी नहीं रखना चाहिए। अब जिन कारणों से मन कामातुर होता है उनका वर्णन किया जाता है।

इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा ।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥ (भग० आ० ८७९)

सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे ।
इट्ठविसयसेवावि य अब्बंभं दसविहं एदं ॥८८०॥ (भग० आ०)

१ स्त्री विषयाभिलाष—स्त्रियों के सुन्दर रूप का दर्शन, अधर रस का पान, मुख का गन्ध सूँघना, सुरीला गान हास्य व मधुर वचनों का सुनना तथा शरीर का कोमल स्पर्श करना चाहना।

२ मेहनविकारानिवारण—लिंग विकार का न रोकना।

३ वृष्यरसोपयोग—बल-वीर्य वर्द्धक पदार्थों व रसों का सेवन करना, उड़द की दाल आदि उत्तेजक पदार्थों का खाना, वाजीकरण औषधियों का सेवन करना।

४ स्त्रीभुक्तोपयोग—स्त्रियों की भोगी हुई सेज व वस्त्रादि को काम में लेकर हर्ष अनुभव करना।

५ वरांगावलोकन—स्त्रियों के कुच आदि गोप्य अंगों को देखना।

६ स्त्री-सत्कार—राग-भाव से स्त्री का आदर करना।

७ वस्त्रमाल्यादि संस्कार—वस्त्र, माला आदि से स्त्री के शरीर की सजावट करना।

८ अतीत स्मरण—पहले किये हुए संभोग को याद करना।

९ भविष्यद्रतानुचिंतन—आगे मैं स्त्रियों के साथ ऐसा सभोग करूंगा, इस तरह का विचार करना।

१० इष्ट विषय सेवन—इच्छानुसार पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन करना।

उक्त दश कारण मन को कामातुर बनाने वाले हैं। इनसे बचने पर ही चंचल मन वश में होकर दश प्रकार के ब्रह्मचर्य को पालने में समर्थ होता है।

दोषाः कामस्य नारीणामाशौचं वृद्धसंगतिः ।
संगदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीवैराग्यं तपस्विनः ॥ (सं० भ० आ० ८९३)

(१) काम की निन्दा (२) स्त्री के दोष (३) शरीर की अपवित्रता (४) स्त्री ससर्ग से हानि (५) सत्संगति (वृद्धों का सहवास) इन पाँचों का विचार करते रहने से संयमियों के चित्त में स्त्री-वैराग्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् भोगों से तबियत हटती है, काम जीता जा सकता है। अतएव क्रमशः इन विषयों पर लिखा जाता है :—

काम-निन्दा

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्णसंकिलेसो य ।
ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक्क कलहो य ॥९२०॥ (भग० आ०)

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो ।
विसया उलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा ॥९२१॥ (भग० आ०)

काम पीडित मनुष्य के राग, द्वेप, अज्ञान, कपाय और संक्लेश की वृद्धि तो होती ही है, वह चुगल-खोरी, ईर्ष्या, हिंसा, मूँठ, असूया (गुणों मे दोप निकालना) चोरी तथा कलह भी करता है, वकवाद करता है, जगह २ तिरस्कार पाता है, मायाचार करता है, निन्दा का पात्र वनता है। कामी के अनेक शत्रु वन जाते हैं, शरीर में नाना प्रकार के राजयक्ष्मा (क्षय रोग) आदि रोग हो जाते हैं। कामी के चित्त में सदा शोक वना रहता है। और कामी खुद तो धन कमा ही क्या सकता है, वाप दादों के जोड़े हुए धन को भी खो देता है। कहाँ तक कहा जावे, उस मे उक्त दोप सहज ही में आ जाते हैं।

काम का सताप जेठ के महिने में मूल नक्षत्र पर तपते हुए सूर्य के संताप से भी अधिक है। यह चंदन लेप, कमल पत्तों की शय्या पर सोना, चन्द्रमा की चाँदनी मे बैठना इत्यादि जितने भी शीतलता पहुँचाने वाले उपाय हैं उनके करने से भी नहीं घटता, अपितु दुगुना वढ़ता है।

इस काम को सर्प की पूर्णोपमा दी गई है :—

सकल्पांडकजातेन विपयछिद्रवासिना ।
रागद्वेपद्विजिह्वेन वृद्धचिंतामहाक्रुधा ॥९०४॥ (भग०)
दष्टकामभुजंगेन लज्जानिर्मोकमोचिना ।
दर्पदंष्ट्राकरालेन रतिवक्त्रेण नश्यति ॥९०५॥ (भग०)
शुग्दिदृक्षायतोच्छ्वासज्वरदाहाशनारुचीः ।
समूर्च्छोन्मादमोहान्ताः कान्तामाप्तोत्यनाप्य ना ॥४।६६॥ (अन० धर्मा०)

संकल्प रूपी अंडे से उत्पन्न, राग-द्वेप रूपी दो जीभों वाले, उन्मत्तता रूपी दाढ़ के धारक, लज्जा रूपी कांचुली को छोड़ने वाले, विपय रूपी विल में रहने वाले, दर्प रूपी दाढ़ से भयंकर, और रति रूप मुख के धारक, काम रूपी सर्प से डसे हुए पुरुप को (१) चाही हुई स्त्री का मेल कैसे हो ऐसी चिन्ता (२) स्त्री को देखने की इच्छा (३) लम्बे २ सांस लेना (४) ज्वर (५) सव शरीर मे सन्ताप (६) भोजन में अरुचि (७) मूर्च्छा (८) पागलपन (९) जीवन की निराशा और (१०) मरण ये दशों वेग आते हैं। काम सेवन पहिले तो विप से पके हुए फल की तरह अच्छा लगता है, पर अन्त में अत्यन्त दुःखदायी है। वड़े वड़े बुद्धिमान् भी कामान्ध होकर अन्त्यज (चांडालनी) आदि स्त्रियों के दास वन जाते हैं। और अपने धन का नाश, वल की हानि, चारित्र का लोप, कुल में दाग लगाना आदि दोपो को न देख कर अपनी वगल में खड़ी हुई मौत की भी परवाह नहीं करते हैं।

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।
मनोभवमनोदन्ती मनुष्याणां निरंकुशः ॥४२॥ (ज्ञाना० प्रक० ११)

निरंकुश, मदोन्मत्त काम रूपी हाथी धर्म-वृक्ष की जड़ तक को उखाड़ देता है। कामी, बहन, बेटी, पुत्र-वधू, सास आदि अगम्य स्त्रियों को तो क्या, गधी, घोडी आदि तिर्यचनियों से भी सभोग करना चाहता है।

जैसे अग्नि घास के ढेर को जला देती है वैसे ही यह धधकती हुई काम रूपी अग्नि कुलीनता-उत्तम कुल, पवित्रता, तप, विद्या और विनय आदि गुणों को क्षण मात्र में भस्म कर देती है।

जैसे प्यासा मनुष्य मरु-भूमि में चक्कर खाकर दुःखी होता है वैसे ही काम ज्वर का प्यासा अनन्त दुःख रूपी टीवों से भरे हुए ससार रूपी मरुस्थल में भ्रमण करता है।

जैसे धतूरा चबाने वाले को मिट्टी भी सोना दिखाई देता है वैसे ही कामी पुरुष को मैथुन में सुख मालूम होता है।

पाकं त्यागं विवेकं, च वैभवं मानितामपि ।
कामार्त्ताः खलु मुञ्चन्ति किमन्यैः स्वञ्च जीवितम् ॥ (क्षत्र चूडामणि लम्ब १)

कामीजन—भोजन, व्रत, तप, अपना वैभव, और प्रतिष्ठा इन सबको ही क्या, अपने जीवन तक को छोड़ देते हैं।

जैसे सूखी हड्डी चबाता हुआ कुत्ता अपने तलुवे के रुधिर को पीकर सुख मानता है वैसे ही कामी पुरुष अपने शरीर, बल, बुद्धि, बहुमूल्य वीर्य का नाश करके मैथुन में सुख मानता है। यह उसकी भारी भूल है।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥२७॥ (ज्ञानार्णव प्र० ११)

कामाग्नि की ज्वाला से सताये हुए लोग जानते हुए भी नहीं जानते, देखते हुए भी नहीं देखते। मान शिखर पर चढ़े हुए मनुष्यों को काम रूपी भट एक क्षण में गिरा देता है अर्थात् मानियों के मान को मर्दन कर देता है। कामी अपनी चाही हुई स्त्री को न पाकर, जहर खाकर, आग में जल कर, या शस्त्राघात से ही मर जाता है।

काम पीड़ित चतुर तो मूर्ख, क्षमावान क्रोधी, बहादुर डरपोक, बड़ा छोटा, कठोर नम्र और इन्द्रियों को जीतने वाला इन्द्रियों का दास हो जाता है।

हरिहरपितामहाद्या बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः ।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कान्नारीं न मुञ्चन्ति ॥ ४६ ॥ (ज्ञाना० प्र० ११)

काम से होने वाली हानियों का कहाँ तक वर्णन किया जावे। उस दुष्ट काम ने हरि (विष्णु) हर (महादेव) व ब्रह्मा को भी इस तरह नष्ट किया है कि उन्हें सब कुछ भूल कर अपनी गोद में स्त्री को धारण करते हुए भी लज्जा नहीं आती।

यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥ ४७ ॥ (ज्ञानार्णव प्रक० ११)

इस प्रकार काम के दोषों को विचार कर मन को इस तरह समझाना चाहिये कि तू ने भयानक दुःखों से पूर्ण इस संसार में घूमते हुए यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाया है। अतः तुझे अब ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे यह कामरूपी अग्नि सदा के लिये बुझ जाय।

(२) कामिनी-निन्दा

मायागेहं ससन्देहं नृशंसं बहुसाहसम् ।
कामान्धैः स्त्रीमनो लक्ष्यमलक्ष्यं योगिनामपि ॥७४॥ (अन० धर्मा० टीका अ० ४)

माया का घर, संशय की दृष्टि से देखने योग्य, कभी भी विश्वास नहीं करने लायक, कठोर (बेरहम), दुस्साहस का धारक स्त्रियों का मन यदि योगीजनों से नहीं पहचाना जा सकने वाला है; तब वह कामान्ध पुरुषों से कैसे जाना जा सकता है ?

भावार्थ—स्त्रियाँ (काम वासना सहित) स्वभाव से ही मन, वचन, काय से कुटिलता को धारण करने वाली हैं, अतः इनका प्रेम टिकाऊ नहीं है। स्त्रियों के दुश्चरित्र को जानने के लिये विधाता, बृहस्पति और योगिराज भी असमर्थ हैं। काम-पीड़ित स्त्रियाँ माता-पिता, भाई, पुत्र आदि को दुःखसागर में डुबो देती हैं। जैसे क्रुद्ध, दुष्ट राजा अपराधी का सर्वस्व लूट लेता है, वैसे ही व्यभिचारिणी स्त्री भी अपने कुल के सर्वस्व को नष्ट कर देती है। वह अपनी विषय वासना के लिये ससुर, पिता, पति के उपकार, गुण और स्नेह आदि का ध्यान नहीं रखती। यदि स्त्री का विश्वास किया जावे तो वह मनुष्य को दोनों लोकों से भ्रष्ट कर देती है। स्त्रियों के वचन में अमृत और हृदय में जहर भरा रहता है। स्त्रियाँ अपने पर अनुरागी पुरुष को यदि वह दुर्बल या निर्धन हो तो मार डालती हैं या निकाल देती हैं।

स्त्रियों के जितने नाम हैं वे इनके अवगुणों को ही प्रकट करते हैं, जैसे—अपने दोषों को ढकने से स्त्री, पति का घात करने से वधू, प्रमाद को बढ़ाने से प्रमदा, मनुष्य के लिये इस जैसा दूसरा अरि (शत्रु) न (नहीं) इसलिये नारी, बड़े-बड़े दोषों को महण करने वाली होने से महिला, बल को नष्ट करने से अबला, इत्यादि।

स्त्रियों के चंचल चित्त को रोकने का उपाय देवताओं के पास भी नहीं है। स्त्रियाँ बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी अपने माया-जाल में फँसा लेती हैं।

जैसे गाय जंगल में अच्छी घास देख कर उसे खाने को दौड़ती है, वैसे ही कुशीला स्त्री अच्छे पर-पुरुष को देख कर उससे रमण करने की इच्छा करती है। स्त्री संसार रूपी गहन वन में से न निकलने देने के लिये बड़ी व गहरी नदी, और स्वर्ग-मोक्ष के कपाटों की आगल है। जैसे तीक्ष्ण अंकुश से हाथी बैठ जाता है, वैसे ही दुष्टा स्त्री की करतूतों से बड़े बड़े मानी और शूरवीर भी दुनियां में नीचे गिर जाते हैं।

ऊपर जो किंचित् मात्र स्त्री-दोष लिखे गये हैं वे व्यभिचारिणी तथा दुष्टा स्त्रियों के हैं। और उन स्त्रियों में से चित्त को हटाने के लिये ही बतलाये गये हैं। यह स्त्रियों की निन्दा नहीं, किन्तु काम की निन्दा है। पुरुष भी यदि कामी हो तो ये बातें उसमें भी घट सकती हैं।

न रामा निखिलाः सन्ति दोषवन्त्यः कदाचन ।
देवता इव दृश्यन्ते वन्दिता बह्वः स्त्रियः ॥१०१५॥ (स० भग० आ०)

सम्पूर्ण स्त्रियाँ सदोषी हैं ऐसा नहीं, बहुत सी स्त्रियाँ अपने पातिव्रत्य की रक्षा आदि के प्रभाव से देवों से भी पूजी गई हैं। और तीर्थंकर मोक्षगामी, चक्रवर्ती आदि पुरुष रत्नों की माताएँ हुई हैं।

यथा नरा विमुञ्चन्ते वनिता ब्रह्मचारिणः ।
त्याज्यास्ताभिर्नरा ब्रह्मचारिणीभिस्तथा सदा ॥१०१४॥ (सं० भग० आ०)

जैसे ब्रह्मचारी पुरुष अवगुणों को देखकर स्त्रियों का त्याग करते हैं, वैसे ही ब्रह्मचारिणी स्त्रियों को पुरुषों के दोष देख कर उनका त्याग करना चाहिये।

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि ।
सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होई सामण्णा ॥१००१॥ (भग०)

मोह के उदय से जीवों के परिणाम खराब होते हैं, और मोहनीय कर्म का उदय स्त्री एवं पुरुष के समान है। इसलिये यहाँ पर स्त्री की जातिगत निन्दा न करके कर्मजनित दोषों की निन्दा की गई है। क्योंकि आचार्यों को न स्त्री से द्वेष है और न पुरुष से राग।

या करोति बहुचाटुशतानि,-द्रव्यदातरि जनेऽप्यकुलीने ।
निर्धनं त्यजति काममपि स्त्री तां विशुद्धधिषणा न भजन्ति ॥
या विचित्रवटकोटिनिघृष्टा मद्यमांसनिरतातिनिकृष्टा ।
कोमलां वचसि चेतसि दुष्टां तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः॥(सु०र०सं० ६०२,६०४)

अर्थ—जो द्रव्य देने वाला नीच जाति का भी हो तो उसकी खुशामद करती है, यदि निर्धन पुरुष काम जैसा सुन्दर भी हो तो भी उसको निकाल देतीहै, छोड़ देती है। जो खाली धन कमाने में ही रहती है, महा भ्रष्ट है। सत्य, पवित्रता, कषाय की मन्दता, आदि धर्मों से रहित है। मद्य सेवन, मांस भक्षण में लीन रहती है, जार पुरुषों का संग करती है, अतएव अत्यन्त अधम है। सब दोषों की खान उस वेश्या को श्रेष्ठ और सभ्य पुरुष दूर से ही त्याग देते हैं। अर्थात् नीच पुरुष ही उसका सेवन करते हैं।

(३) शरीर का स्वरूप

"शुक्रशोणितमङ्गस्य यदुपादानकारणम् ।
अशुच्यङ्गं ततो यद्वदमेध्यघृतपूरकः ॥"

जैसे विष्ठा से बना हुआ घेवर; घी और मीठे के संयोग से सुन्दर दिखाई देने पर भी अपवित्र ही समझा जाता है, वैसे ही शरीर का उपादान कारण पिता का वीर्य और माता का रुधिर (रज) है, इस कारण देखने में सुन्दर भी शरीर स्वभाव से अपवित्र है। रज-वीर्य के संयोग से मास पिण्ड रूप शरीर की उत्पत्ति होती है, फिर क्रम से बढ़ते-बढ़ते पाँचवें मास में पाँच अंकुर (दो पैर, दो हाथ, एक सिर) होते हैं, छठे मास में आठ अङ्ग तथा सातवें मास में त्वचा (खाल) और बाल बनते हैं। पहले तो गर्भस्थ जीव माता के खाये हुए भोजन के रस को चौतरफ से ग्रहण करता है। फिर सातवें मास में नाल बन जाने से उसके द्वारा रस लेता है—इस प्रकार तो शरीर की गर्भ में अपवित्रता है। जन्म लेने के पश्चात् भी यह देह :—

अमेध्यस्य कुटी गात्रममेध्येनैव पूरिता ।
अमेध्यं स्रवते छिद्रै अमेध्यमिव भाजनम् ॥१०५२॥ (सं० भग० आ०)

यह शरीर अपवित्र पदार्थों से बनी हुई झोंपड़ी है, जो हाड़, मांस, वीर्य आदि अपवित्र पदार्थों से भरी हुई है और मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थ ही इससे निकलते रहते हैं। शरीर में सात त्वचा (खाल की झिल्ली), २० नख, ३२ दाँत और ३०० हड्डियाँ हैं। जिसका शरीर हो उसी मनुष्य की एक-एक अंजुली प्रमाण मस्तिष्क, वीर्य और मेदा (चर्बी) होती है। छह अंजुली पित्त, छह अंजुली कफ, ३ अंजुली वसा, आधा आढक (४ सेर) रुधिर, एक आढ़क (८ सेर) मूत्र और ६ प्रस्थ (सेर) विष्ठा साधारण रूप से रहती है। अतः विचारने से शरीर में सब चीजें खराब परमाणुओं से बनी हुई हैं। इस पर भी देह अनेक प्रकार के कीड़ों से भरी हुई है। और इसके रोम-कूपों से (बाल के छेदों से) चिकना पसीना निकलता है, उससे भी बाहर में जुएँ, लीखें आदि पैदा होती हैं। जैसे सैकड़ों बार धोने पर भी कोयला सफेद नहीं होता, वैसे ही समुद्रों प्रमाण पानी से धोने पर भी शरीर शुद्ध नहीं हो सकता।

मच्छाद्य निंदितं गंधं भुज्यतेऽन्यकलेवरम् ।
हिंग्वादिभिरिव द्रव्यैः पिशितं विघ्नणात्मभिः ॥१०७८॥ (सं० भग० आ०)

जैसे मांसभक्षी लोग हींग, मिर्च आदि से मांस की दुर्गन्धि मिटा कर उसे खाते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगने के लिये अपवित्र शरीर को उबटन या पाउडर लगा कर, बढ़िया-बढ़िया साबुनों से धोकर, सुगंधित इत्र, तेल, लवंडर लगा कर, चन्दन-कपूर आदि का लेप कर, अच्छी-अच्छी पुष्प-मालायें पहना कर इसकी मलिनता व दुर्गन्धता को दूर करते हैं। परन्तु शरीर उन्हीं सब पदार्थों को भी अपवित्र व दुर्गन्धमय बना देता है।

(४) मैथुन—निन्दा

अविद्याशाचक्रमस्मरमनस्कारमरुता,
ज्वलत्युच्चैर्भोक्तुं स्मरशिखिनि कृत्स्नामिव चितम् ।
रिरंसुः स्त्रीपंके कृमिकुलकलंके विधुरितो,
नरस्तन्नास्त्यस्मिन्नहह सहसा यन्न कुरुते ॥६७॥ (अन० धर्मा० अ० ४)

अर्थ—देह और आत्मा को एक रूप जानने वाली अविद्या से उत्पन्न हुई जो विषयों की वांछा, उसमें सन्तान रूप से फैला हुआ जो मन का उपयोग रूप वायु, उससे मानों समस्त चेतना को ही भस्म करने के लिये प्रज्वलित हुई जो काम रूप अग्नि, उसके दाह से व्याकुल हुआ यह मनुष्य कीड़ों के समूह से भरे हुए स्त्री शरीर रूपी कर्दम (कीचड़) में रमने की इच्छा करता है। इस विषयाभिलाषा के वश हुआ मानव ऐसा कोई बुरा काम नहीं जिसको न कर ले। भावार्थ—काम के दाह से व्याकुल नर दाह-शान्ति के लिये स्त्री–देहरूपी कीचड़ में फँस कर बुरे से बुरे काम करने को तैयार रहता है।

रम्यमापातमात्रेण परिणामेऽतिदारुणम् ।
किंपाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥ (अन० धर्मा० की टीका अ० ४)

जैसे किंपाक फल (विषफल) देखने में सुन्दर और खाने पर घातक होता है, वैसे ही मैथुन कर्म भी पहले तो अच्छा लगता है, परन्तु अन्त में विरस एवं अत्यन्त दारुण दुःख देने वाला है। स्त्री शरीर के सभी अवयव अपवित्र हैं। तथापि कामीजन उनके मुख आदि को जीभ से चाटते हैं। जैसे काक; कीड़ों से भरे हुए मुर्दा के शरीर में प्रीति करता है, उसी तरह कामीजनों की स्त्री के गुप्त स्थान में मैथुन करने के लिये इच्छा होती है। जिसका नाम लेने से लज्जा आती है उस मूत्र व रुधिर निकलने की मोरी रूप स्त्री के जघन द्वार में रागान्ध ही रमण करते हैं। वस्तु-स्वरूप के ज्ञाता तो स्त्री के शरीर का चित्र भी नहीं देखना चाहते हैं।

स्त्री-संसर्ग-वर्जन

"द्वयमेव तपःसिद्धौ बुधाः कारणमूचिरे ।
यदनालोकनं स्त्रीणां यच्च संग्लापनं तनोः ।"

ज्ञानी जनों ने तप की सिद्धि होने में दो ही कारण मुख्य माने हैं—स्त्रियों का न देखना और शरीर को कृश करना।

भावार्थ—जो सब परिग्रहों को छोड़ कर भी स्त्रियों के सहवास में रहता हो, वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। जो तप करने वाले व्रती, मौनी व जितेन्द्रिय हैं, उनको भी स्त्री सग से संयम में दोष लग जाता है। जैसे बिजली से पर्वतों का खंडन हो जाता है वैसे ही स्त्री-कटाक्षों से पुरुषों के मन विचलित हो जाते हैं, संयम रूपी पहाड़ के खंड २ हो जाते हैं।

तावद्धत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं कुलक्रमम् ।
यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुद्ध्यते ॥७॥ (ज्ञाना० प्र० १४)

तब तक ही मुनि ध्यान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और कुल परम्परा का पालन कर सकता है जब तक कि मदोन्मत्त स्त्रियों के कटाक्षबाणों से विचलित न हो।

जैसे अग्नि के सयोग से मक्खन पिघल जाता है वैसे ही सज्जनों का मन स्त्री सहवास से डिग जाता है। जैसे अपथ्य सेवन से रोग जग उठते हैं, वैसे ही स्त्री के साथ में रहने से काम रूपी सर्प भी जग उठता है। जिन स्त्रियों का मन में सकल्प (विचार) करने मात्र से ही काम-ज्वर उत्पन्न हो जाता है;उसका सहवास चरित्र को कैसे नष्ट नहीं करेगा? अतः यह सुनिश्चित है कि स्त्री-मुख-दर्शन मात्रसे भी चारित्र में हानि हुए बिना नहीं रह सकती। मिट्टी, लकड़ी आदि से बनी हुई स्त्री की मूर्त्ति वा कागज आदि की तस्वीर में भी स्त्रियों के शरीर को देखकर मन मोहित हो जाता है तो साक्षात् स्त्री को देखने पर मन कैसे चलायमान नहीं होगा? पुरुषोंके मेल-जोल सेतो गुण-दोष दोनों होते हैं,परन्तु स्त्रियों के सहवास मे रहनेसे दोषही दोषपैदा होते हैं।

पुण्यानुष्ठानसम्भूतं महत्वं क्षीयते नृणाम् ।
सद्यः कलंक्यते वृत्तं साहचर्येण योषिताम् ॥२५॥ (ज्ञानार्णव प्र० १४)

पुरुषों के उत्तमोत्तम धर्म-कार्य करने से जो बड़प्पन पैदा होता है, स्त्री ससर्ग से वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। और चरित्र तत्काल दूषित हो जाता है।

भावार्थ—जैसे कीच में फँसी हुई हथिनी नहीं निकल सकती, वैसे ही स्त्री मुख पर धोखे से पड़ी हुई नजर भी नहीं हट सकती। स्त्री रूपी चोरों से घिर कर मुनि भी अपने चारित्र रूपी मोतियों को खो बैठते हैं। जैसे बुझी हुई आग को हर एक पैर से दबा लेता है वैसे ही ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हुए मनुष्य का हरएक तिरस्कार कर देता है। जो महा-तपस्वी, शास्त्र-पाठी और ध्यानी थे, वे स्त्रियों के संसर्ग से कलंकित हो गये। इस कथन की पुष्टि में बहुत सी कथाएँ शास्त्रों व इतिहासों में सुनी जाती हैं।

सर्वसौख्यदतपोधनचोरी, सर्वदुःखनिपुणा जनमारी ।
मर्त्यमत्तकरिबन्धनवारी, निर्मितात्र विधिना परनारी ॥६१६॥
मन्यते न धनसौख्यविनाशं नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्यम् ।
नेक्षते भवसमुद्रमपारं दारिकार्पितमनो गतबुद्धिः ॥६०९॥ (सु० र० स०)

सब सुख के देने वाले तप रूपी धन को चुराने वाली, सब प्रकार के दुःख देने में चतुर, पति को भी मारने वाली और पर पुरुष रूपी मदोन्मत्त हाथी को बांधने के लिये सांकल के समान पर स्त्री को विधाता (दैव) ने रची। इसमें जो नष्ट-बुद्धि अनुरागी हो जाते हैं वे न तो धन व सुख के नाश का खयाल करते हैं, न माता-पिता, गुरु, सज्जन आदि के उपदेश को मानते हैं, न अपार-संसार-सागर का उन को भय रहता है।

नारीणां दर्शनोद्देशभाषणप्रतिभाषणैः ।
आकृष्यते मनो नृणामयस्कान्तैरिवायसम् ॥११२२॥
मातृ-स्वसृ सुताः पुंस एकान्ते श्रयतो मनः ।
शीघ्रं क्षोभं व्रजत्येव किं पुनः शेषयोषितः ॥११३०॥ (सं० म० आ०)

जैसे चुम्बक से लोहा खिंच जाता है वैसे ही स्त्रियों के देखने से, उनके साथ में रहने से, उनके साथ बात करने से, या उनकी बातों का उत्तर देने से मनुष्यों का मन खिंच जाता है। माता, बहिन या पुत्री के साथ एकान्त में संयोग होने पर मनुष्य का मन डिग जाता है तो अन्य स्त्रियों के एकान्त में मिलने पर मन कैसे विचलित न होगा ?

(५) *सत्संगति—वृद्धों की सेवा*

अवश्यं यौवनस्थेन क्लीवेनापि हि जन्तुना ।
विकारः खलु कर्त्तव्यो नाविकाराय यौवनम् ॥

यस्मिन्नजः प्रसरति स्खलितादिवोच्चै-
रान्ध्यादिव प्रबलता तमसश्चकास्ति ॥
सत्त्वं तिरोभवति भीतमिवाङ्गजाग्ने-
स्तद्यौवनं विनय सज्जन-संगमेन ॥ (अन० धर्मा० अ० ४)

युवावस्था में नपुंसक को भी अवश्य काम विकार होता है, अतः जो पुरुष हैं उनको तो युवावस्था में काम विकार होना ही चाहिए। जिसमें धर्म को अधर्म, कार्य को अकार्य समझने वाला रजोगुण फैलता है और सब अच्छी चीजों को बुरा समझने वाली तमोगुण रूपी बुद्धि चमकती है, मानो काम की अग्नि से डर कर ही सत्त्वगुण भाग जाता है, उस यौवन को सत्पुरुषों की संगति से सदाचार में लगाना चाहिए। क्योंकि कुसंगति से चारुदत्त जैसा सुशील भी कुशील (वेश्यागामी—भ्रष्टाचारी) बन गया और सत्संगति से कुशील मारिदत्त भी सुशील बन गया।

काम विकार को जीत कर ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये आचार्यों ने वृद्ध पुरुषों की सेवा करना व उनके सहवास में रहना भी एक प्रबल उपाय बतलाया है। परन्तु यहाँ वृद्ध से मतलब जिनके बाल सफेद हो गये हों, दाँत टूट गये हों या रिश्तेदारी में जो बड़े हों उनसे नहीं है। किन्तु जो तप में, ज्ञान में, धैर्य में, ध्यान आदि में वृद्ध (बढ़े-चढ़े) हों तथा जिनका चित्त कभी चलायमान नहीं होता हो, युवावस्था में भी जिनके चरित्र में जरा भी दोष न लगा हो, वे ही वृद्ध माने गये हैं। क्योंकि—

हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रियं सत्संगवासितः ॥१०॥ (ज्ञाना० प्र० १५)

यदि कोई वृद्ध भी है और उसका आचरण ठीक नहीं तो वह बुड्ढा होने पर भी तरुण है और जो तरुण होने पर भी सत्संगति के प्रभाव से जितेन्द्रिय बन गया है, वह युवा भी वृद्ध है।

जैसे कतक (निर्मली) के बीज से कीचड़ नीचे बैठ जाता है, उसी तरह वृद्ध-संगति से प्रकोप को भी प्राप्त हुआ काम-विकार दब जाता है और जैसे जल में पत्थर डालने से नीचे दबा हुआ कीचड़ भी फैल जाता है वैसे ही दबी हुई विषयाभिलाषा भी तरुणों की संगति से जागृत हो जाती है।

जैसे जल के संयोग से मिट्टी में गन्ध आने लगती है, वैसे ही कुसंगति से मोह जग उठता है। जैसे जल से फूल की वास जाती रहती है, वैसे ही सत्संगति से मोह भी नष्ट हो जाता है। जिनका हृदय-कमल वृद्धों के उपदेश रूपी सूर्य की किरणों से न खिला, वहाँ संयम रूपी लक्ष्मी निवास नहीं कर सकती। जो वृद्ध-सेवा के बिना संसार व मोक्ष का स्वरूप जानना चाहता है, वह हाथों से आकाश को नापता है। वृद्ध-सेवा से ही क्रोधादि कषायों से मैला मन निर्मल होता है।

विश्वविद्यासु चातुर्यं विनयेष्वतिकौशलम् ।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्संगादेव देहिनाम् ॥ (ज्ञाना० प्र० १५।२६)

सत्संग से ही सब विद्याओं में चतुरता, पूज्य पुरुषों का विनय करने में निपुणता और शास्त्र उपदेश में सन्देह आदि दूर होकर भावों में शुद्धता होती है।

सत्पुरुषों के मुख से सुना हुआ उपदेश दुर्बुद्धि का नाश करता है। मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ अनादि काल का अज्ञान रूपी अन्धकार, सत्संगति रूपी दीपक के प्रकाश से निकल जाता है।

यः करोति गुरुभाषितं मुदा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ।
मुञ्चते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥१११७॥

रजोधुनीते हृदयं पुनीते, तनोति सत्वं विधुनोति कोपम् ।
मानेन पूतं विनय नयन्ति किं वृद्धसेवा न करोत्यभीष्टम् ॥१११८॥ (सु० भ० श्रा०)

जो सद्गुरुओं के उपदेशानुसार चलता है, वृद्धों से भरे हुए स्थान में रहता है, तरुण पुरुषों की संगति से बचता है वही निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। वृद्ध-सेवा पाप का नाश करती है, हृदय को पवित्र बनाती है, सात्विक पराक्रम को बढ़ाती है, क्रोध का नाश करती है, मान को दूर कर विनय गुण को बढ़ाती है। सारांश यह कि सब उत्तम गुण इस वृद्ध-सेवा से ही प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचर्य की प्रशंसा

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥३॥ (ज्ञाना० प्र० ११)

तीनों जगत मे एक ब्रह्मचर्य ही प्रशंसनीय है। क्योंकि जिस पुरुष व स्त्री ने निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन किया वे देवों द्वारा पूजित हुए हैं।

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥४॥ (ज्ञाना० प्र० ११)

चारित्र का जीवन स्वरूप ब्रह्मचर्य सदा जयवन्त रहे। क्योंकि यदि मनुष्य में और सब गुण हों और ब्रह्मचर्य न हो तो वे सब गुण केवल दुःख के निमित्त हो जाते हैं। अर्थात् वे गुण किसी काम के नहीं।

"त्रिलोकदाही विषयोद्धतेजाः तारुण्यतृण्याज्वलितः स्मराग्निः ।
न प्लोषते यं स्मृतिधूमजालः स वंदनीयो विदुषा महात्मा ॥"

अर्थात् - तीन लोक को भस्म करने वाली, विषयों से वृद्धिगत तेज की धारक, युवावस्था रूपी तृण-समूह से प्रज्वलित हुई और विषय भोगों के स्मरण-रूप धुओं को धारण करने वाली काम रूपी अग्नि जिसको नहीं जला सकती, वह ब्रह्मचारी महात्मा जगत के बड़े बड़े ज्ञानी पुरुषों द्वारा वंदनीय है।

"संयमधर्मविबद्धशरीराः साधुभटाः स्मरवैरिणमुग्रम् ।
शीलतपःशितशस्त्रनिपातैर्दर्शनबोधबलाद्विधुनंति ॥"

सयम धर्म रूपी कवच को धारण करने वाले मुनि रूपी सुभट शील एवं तप रूपी तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार द्वारा दर्शन-ज्ञान के बल से इस काम-वैरी को जीतते हैं।

विलाससलिलोत्तीर्णा यैस्तीव्रा यौवनापगा ।
अग्रस्ताः प्रमदाग्राहैस्ते धन्या मुनिपुङ्गवाः ॥११४९॥ (सं० भग० आ०)

भोग विलास रूपी जल वाली, जवानी रूपी अति वेगवती नदी को जिन्होंने पार कर लिया और जो स्त्री रूपी मकरों से नहीं खाये गये—बचे हुए हैं, वे मुनि पुंगव धन्य हैं।

स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलकरालितम् ।
जगद्यैः शान्तिमानीतं ते जिनाः सन्तु शान्तये ॥ (ज्ञाना० प्र० १५।४८)

जिन्होंने काम रूपी महा सर्प के द्वारा विकराल विषाग्नि से भस्म किये हुए जगत को सदुपदेश रूपी अमृत से शान्त किया, वे श्री जिनेन्द्रदेव संसार के दुःखों की शान्ति के लिये होवें।

जैनेतर मतों से ब्रह्मचर्य की प्रशंसा।

ब्रह्मचर्य और तप के प्रभाव से ही देव अमर बन जाते हैं (अथर्ववेद)। "तेषामेवैष स्वर्गलोको, येषां तपो ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्" उन्हीं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, जो तप व ब्रह्मचर्य के धारक हैं, और जिन में सत्य का निवास है—ऐसा प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है।

आजन्ममरणाद्यास्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमेतद्विद्धि नराधिप ॥ (महा०)

भीष्मजी युधिष्ठिर को कहते हैं कि हे राजन् ! जो जन्म से मरण पर्यन्त (जीवन भर) ब्रह्मचारी है उसके सब मनोवांछित सिद्ध हो जाते हैं।

मृत्युव्याधिजरानाशि पीयूषं परमौषधम् ।
ब्रह्मचर्यं महद्यत्नं सत्यमेव वदाम्यहम् ॥

धन्वन्तरीजी उपदेश करते हैं कि हे शिष्यो ! रोग, वृद्धावस्था व मरण का नाश करने के लिये यदि अमृत रूप औषधि चाहते हो तो उसके लिए ब्रह्मचर्य का ही पालन करो, मैं सत्य कहता हूँ, यही बड़ा उपाय है।

"तत्र एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते" (छान्दोग्योपनिषद्)

ब्रह्मचर्य के सेवन द्वारा ही ब्रह्मलोक मिलता है।

"ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तपउच्यते" (गीता)

ब्रह्मचर्य को धारण करना और जीवों की हिंसा न करना यह शरीर से होने वाला तप है।

"सत्येन लभ्यस्तपसाह्येप आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यं ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥"

सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य इन चारों से आत्मा की प्राप्ति होती है। यह दीप्तिमान् और निर्मल आत्मा शरीर ही में विद्यमान है, जिसे दोष रहित यति जन ही देखते हैं।

कायेन मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्ष्यते ॥ (याज्ञ०)

मन, वचन, काय से सदा सब अवस्थाओं में सब स्त्रियों के साथ जो मैथुन का त्याग है, वही ब्रह्मचर्य कहलाता है।

"ब्रह्मचर्येण विद्या, विद्यया ब्रह्मलोकम्" ब्रह्मचर्य से विद्या (सम्यग्ज्ञान) की प्राप्ति होती है, और विद्या से ब्रह्मलोक मिलता है।

"मेधादिव्यवराशक्तिर्ब्रह्मचर्येण गृह्यते ॥" (श्रुति)

मेधा (बुद्धि) और दिव्य तथा श्रेष्ठ शक्ति ब्रह्मचर्य से ही मिलती है।

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः" योग दर्शन में कहा है कि जो ब्रह्मचर्य को पालता है उसे अनुपम वीर्य (अचिन्त्य बल) की प्राप्ति होती है।

स्वदारे यस्य संतोषः परदारनिवर्तनम् ।
अपवादोऽपि नो यस्य तस्य तीर्थफलं गृहे ॥ (व्यास)

जो स्वस्त्री में सन्तोषी और परस्त्री का त्यागी है, जिसकी कोई निन्दा नहीं करता, उसे गंगा, गया, प्रयाग, पुष्कर, हरिद्वार आदि तीर्थों में जाकर स्नान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सब तीर्थों के स्नान का फल उसको घर में ही हो जाता है।

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥१६०॥ (मनु० अ० ५)

कई हजार कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मण विवाह के द्वारा सतान उत्पन्न न करके, वंश रक्षा किये बिना ही ब्रह्मचर्य के प्रभाव से स्वर्ग गये हैं। गुणवती शीलवती (पतिव्रता) स्त्रियां पति के मरने पर ब्रह्मचर्य का पालन कर, सन्तान उत्पन्न किये बिना ही, उन ब्रह्मचारी पुरुषों की तरह स्वर्ग में गई हैं।

इति ब्रह्मचर्यं महामतम्

परिग्रह-त्याग महाव्रत

अब पाँचवें परिग्रह-त्याग महाव्रत का वर्णन करते हैं।

चेतनेतरवाह्यान्तरंगसंगविवर्जनम् ।
ज्ञानसंयमसंगो वा निर्ममत्वमसंगता ॥२०॥ (आचा० प्रथम० अ०)

चेतन और अचेतन रूप जितना भी बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह है उसको छोड़ देना, केवल ज्ञान और संयम का ही परिग्रह रखना अथवा निर्ममत्व अर्थात् मूर्च्छा का अभाव होना परिग्रह-त्याग महाव्रत है।

परिग्रह का अर्थ है लेना, चारों ओर से ग्रहण करना। आत्मा से भिन्न किसी भी पर-वस्तु को लेना, अपनी बनाना या समझना परिग्रह है।

परिग्रह के भेद।

परिग्रह के दो भेद हैं—(१) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग (बाह्य)।

अन्तरंग परिग्रह।

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ॥ (भगवती आ० १११८)

मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह के भेद हैं।

जिसके उदय से सर्वज्ञ कथित मार्ग से विमुखता हो, वस्तु के (जीवादि तत्वों के) यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करने में उत्सुकता या प्रीति न हो, हिताहित की पहचान में असमर्थता हो वह मिथ्यात्व है। जिसके उदय से स्त्री से रमने की इच्छा हो वह पुरुषवेद। जिसके उदय से पुरुष से रमने की इच्छा हो वह स्त्रीवेद। जिसके उदय से स्त्री व पुरुष दोनों से रमने की इच्छा हो वह नपुंसक वेद। जिसके उदय से हँसी आवे वह हास्य। जिसके उदय से पर से प्रेम या उसके प्रति उत्सुकता हो वह रति। जिसके उदय से किसी से द्वेष या अभिरुचि का अभाव हो वह अरति। चिन्ता या फिक्र का होना शोक। उद्वेग का होना या डर लगना भय। ग्लानि करना जुगुप्सा। क्रोध, मान, माया, लोभ का स्वरूप पहले बतला चुके। ये परिग्रह इसलिये हैं कि ये आत्मा के निजी भाव नहीं हैं, कर्मों के संयोग से जीव इन्हें अपनाता है। और अन्तरङ्ग इसलिये कहे जाते हैं कि बाह्य-परिग्रह की तरह बाह्य में इनका कोई स्वरूप दिखाई नहीं देता। केवल इनका कार्य-मात्र दिखलाई देता है।

बाह्य परिग्रह ।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं ।
यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं संगा बहिर्दश ॥११५६॥ (सं० म० श्रा०)

क्षेत्र (बीज बोने की भूमि), वास्तु (रहने का मकान), धन (सोना, चाँदी), धान्य (चाँवल, गेहूँ आदि अनाज), द्विपद (दो पैर वाले जीव—दासी, दास आदि), चतुष्पद (चार पैर वाले जीव—हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि), यान (सवारी—पालकी, रथ आदि), शय्यासन (पलंग, कुर्सी, सिंहासन आदि सोने एवं बैठने की चीजें), कुप्य (सोना और चाँदी के अतिरिक्त ताँबा आदि अन्य सब धातु अथवा वस्त्र आदि) और भांड (बर्तन; हल्दी, जीरा, मिर्च आदि मसाला अथवा किराने का सामान) ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं।

संक्षेप में बाह्य परिग्रह के दो भेद किये जा सकते हैं :—

चेतन और अचेतन*। उक्त दश प्रकार के बाह्य परिग्रह में द्विपद और चतुष्पद चेतन परिग्रह हैं और बाकी आठ भेद अचेतन रूप हैं। पहले तो चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह बताया गया है वह सब चेतन रूप ही है, क्योंकि वह सब आत्मा का ही परिणाम है।

उक्त बाह्य और अभ्यन्तर—दोनों ही प्रकार का परिग्रह-जीव के लिये अहितकर है। यह एक प्रकार का जाल है जो दूर से दिखने में बहुत ही सुन्दर प्रतीत होता है। पर ज्यों ही इसकी मोहकता पर लुभाने वाला इसमें से कुछ पाने की चेष्टा करता है, स्वयं बंध जाता है। परिग्रह के फन्दे उसे चारों ओर से जकड़ देते हैं, उसकी सारी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। और इस तरह पराधीन हो जाने से वह अपना आत्मिक उत्थान नहीं कर पाता। इसीलिए परिग्रह को पाप माना गया है, क्योंकि जीव के पतन के अन्यान्य कारणों की तरह यह भी पतन का एक कारण है। परिग्रह वाला व्यक्ति कभी उठ नहीं सकता। उसका उत्थान न होकर पतन ही होता है। श्री शुभचन्द्राचार्य ने लिखा है:—

जिस प्रकार पत्थरों का बोझ बढ़ने से गुणवान (रस्सियों से बँधी हुई) भी नाव समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार संयमी गुणवान होता हुआ भी यदि परिग्रह का भार अपने पास रखता है तो वह संसार-समुद्र में अवश्य ही डूब जाता है। योगी का हित है संसार से निवृत्ति में और परिग्रह है प्रवृत्ति का मूल। अतः यह उसके हित के सर्वथा विपरीत है। योगी को हित के लिये वैराग्य चाहिए और यह राग की जड़ जमाता है।

---

*पहले जो बाह्य परिग्रह के दश भेद बताये हैं वे विशेषतया गृहस्थों की दृष्टि से हैं। महाव्रतियों की अपेक्षा तो चेतन और अचेतन ये दो भेद ही पर्याप्त हैं। पहले १० भेदों में द्विपद का अर्थ दासी, दास किया गया है, वहाँ स्त्री, पुत्रादि का ग्रहण नहीं किया गया। पर महाव्रतियों की दृष्टि से किये गये चेतन और अचेतन इन दो भेदों से स्त्री, पुत्र आदि सभी चेतनों का ग्रहण समझना चाहिए। द्विपद के अर्थ में इनके ग्रहण न करने का कारण यह है कि यदि कोई दूसरी प्रतिमावाला परिग्रह का परिमाण करे तो वह माता, स्त्री, पुत्र, पुत्री, पौत्र आदि की संख्या निश्चित नहीं कर सकता। अतः द्विपद परिग्रह में वहाँ दासी दास का ही ग्रहण समझना।

स्वल्प मात्र परिग्रह रखने से भी मोह का प्रबल बंध हो जाता है और तृष्णा इतनी बढ़ जाती है कि तीन लोक की सम्पत्ति पा लेने पर भी उसकी शान्ति नहीं हो सकती। परिग्रह के चक्कर में फँसा हुआ मनुष्य विवेक-भ्रष्ट हो जाता है। विषयों की ओर उसका चित्त दौड़ने लगता है और वे विषय विषधर (सर्प) का रूप धारण कर उसे काटने लगते हैं। काम के बाणों से वह बंधा जाता है, स्त्री-रूपी शिकारियों से अपने जाल में फँसा लिया जाता है। उसके चित्त में स्थिरता नहीं रहती, धैर्य और दृढ़ता का सर्वथा अभाव हो जाता है। परीषहों से घबरा उठता है। उपसर्गों के सामने टिकने नहीं पाता। ध्यान की सिद्धि उसके लिए असंभव हो जाती है और मुक्ति हो जाती है बहुत ही दूर। इसीलिए परिग्रह की वासना रखने वाले योगी को अंधे के समान बताया गया है। क्योंकि उसे अपना हित दिखाई नहीं देता। वह उद्यम करना चाहता है मुक्ति के लिए और प्रवृत्ति ऐसी करता है जिससे उसका आत्मा कर्मों से और भी दृढ़ बंध जाय।

परिग्रह नये अवगुण ही उत्पन्न नहीं करता, उपार्जित गुणों का नाश भी कर देता है। रागादि का विजय, सत्य, क्षमा, शौच, वितृष्णता आदि गुण परिग्रही के पास नहीं टिकने पाते। इसलिए परिग्रह का संसर्ग महान दुःख का कारण है। नरक में ले जाने वाला है। इसके ग्रहण के साथ कामना (इच्छाएँ) लगी हुई हैं। इच्छाओं के साथ क्रोध है। क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरक तैयार है। वहाँ के दुःखों का तो फिर कहना ही क्या? इसीसे पाप परम्परा का प्रादुर्भाव होता है और उससे जीवका कई भवों में भी छुटकारा नहीं होपाता। परिग्रह द्वारा प्राप्त होने वाले दुःखों से पीड़ित हुआ जीव अपनी बंध परम्परा को छेदना चाहता है पर छेद नहीं पाता, बल्कि विषाद रूपी जल से सींच कर उस बन्धन को और भी दृढ बना लेता है और जन्म जन्मान्तर में दुःख भोगता रहता है, चिरकाल तक उसका छुटकार नहीं हो पाता। यही कहा भी है—

> चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
> अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ (अन० ध० अ० ४।१०८ टीका)

आत्मीय और आत्मभूत पदार्थों में ममकार और अहंकार का होना ही चिरकाल से जीव के कुयोनियों में परिभ्रमण का कारण है। असम्बद्ध स्त्री, पुत्र आदि में ये मेरे हैं, ऐसा भाव होना ममकार और आत्मा से सम्बद्ध शरीर आदि में मैं ऐसा हूँ, ऐसा भाव अहंकार कहलाता है। ये ममकार और अहंकार दोनों ही बुरे हैं। संसार परिभ्रमण का यदि भय हो, तो इनसे बचना आवश्यक है और इनसे बचने के लिए परिग्रह का सर्वथा त्याग कर देना आवश्यक है। तिल-तुष मात्र परिग्रह भी पतन का कारण बन सकता है। परिग्रह पतन का कारण किस तरह बनता है इस विषय में और भी सुनिए।

> "परिग्रहार्थं प्रणिहन्ति देहिनो, वदत्यसत्यं विदधाति मोषणं ।
> निषेवते स्त्रीं श्रयते परिग्रहं, न लुब्धबुद्धिः पुरुषः करोति किम् ॥"

परिग्रह के लिए मनुष्य प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, स्त्री सेवन करता है, परिग्रह रखता है, अनेक पाप करता है। ऐसा कौन सा पाप कार्य है जिसे परिग्रह-लुब्ध-बुद्धि मनुष्य नहीं करता? वह सब कुछ पाप करने को तैयार रहता है। धन के लोभी की दशा देखिये—

हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यतिरोदिति ।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति ॥
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति ।
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥ (अन० ध० अ० ४ श्लो० १०७ टीका)

थोड़े से धन के बदले नौकर रखा गया मनुष्य अपने स्वामी के हाथों पूरा बिक जाता है।

वह अपने स्वामी को खुश करने के लिए उसके हँसने पर हँसता है, रोने पर रोता है। यदि कोई निर्दोष और गुणवान पुरुष की भी मालिक निन्दा करने लगे तो वह भी उसमें दोष निकालने लगता है। मालिक दौड़ता है तो पसीनों से भीगा हुआ भी वह उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगता है। सचमुच वह थोड़े से धन के लिए अपने जीवन को बेच कर अपने स्वामी की मशीन बन जाता है, उसके हाथ की पूरी कठपुतली बन जाता है। जैसे वह नचाना चाहता है वैसे ही नाचने लगता है। धन के लोभ से पुत्र पिता की हत्या कर दे, भाई भाई को मार दे। यह तो धन-प्राप्ति से पहले की बातें हैं। आश्चर्य तो यह है कि धन मिल जाने पर भी किसी को शान्ति नहीं मिलती, हमेशा अशान्ति, शंका बनी रहती है। रात्रि को भी नींद नहीं आती। स्वजनों का भी विश्वास नहीं रहता। और की क्या बात, धन के चक्कर में फँस जाने पर योगी भी यम-नियम भ्रष्ट हो जाता है और कषायों की शान्ति से उत्पन्न हुए सामर्थ्य को भी खो बैठता है। उसे तप और स्वाध्याय का भी ध्यान नहीं रहता। क्योंकि धन को पिशाच की उपमा दी गई है। इसकी वासना जिसके हृदय में नाचने लगती है उसको स्थिरता कहाँ? उसका चित्त कभी निश्चल नहीं रह सकता। उसमें तो अविद्या अपने खेल दिखाने लगती है। इन्द्रियाँ उन्मत्त हो उठती हैं, कषायें प्रबल बन जाती हैं। इस अविद्या के रहते हुए नित्य एवं वास्तविक आत्मिक सुख का जीवों को अंश रूप में भी अनुभव नहीं होता। सर्वदा क्षणिक एवं अनित्य इन्द्रियजन्य सुखों की तृष्णा ही साथ लगी रहती है। उनका जितेन्द्रिय बनना असम्भव-सा हो जाता है। अतः वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर धन भी सुख का कारण सिद्ध नहीं होता, विविध दुःख का ही कारण समझ में आता है। किसी ने ठीक ही लिखा है:—

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनं ॥

प्रथम तो धन के उपार्जन करने में ही दुःख, उपार्जन कर भी लिया है तो उसकी रक्षा करने में दुःख। बढ़ाने की चिन्ता और खर्च करने में भी दुःख। तो जिसके आने, जाने और रहने की अवस्था में भी सदा दुःख लगा रहता है उस धन की सराहना कैसे की जा सकती है? वह तो हमेशा ही धिक्कार के योग्य है।

एक धन की ही बात नहीं, सभी परिग्रह दुःख रूप होता है। उसे अपना कर यह जीव कभी सुखी नहीं बनता। भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र आदि ही नहीं, स्वयं अपना शरीर भी ममत्व रखने पर दुःख का कारण बन जाता है। जीव अन्यान्य परिग्रह को अपना कर मोह वश उसकी रक्षा के लिए अनेक पाप करता है और उसका पाप-परिणाम स्वयं अकेला भोगता है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो केवल अपने आत्मा के अतिरिक्त सभी चीजें पर हैं। उनमें से किसी भी चीज को अपनाने वाला व्यक्ति अपराधी है। इसीलिए पर वस्तु को अपनाने वाले चोर की भांति, परिग्रहासक्त आत्मा को भी कर्मों की शृङ्खला में बद्ध होकर अनेक दुर्गतियों के दुःख उठाने पड़ते हैं। जैसा कि कहा है—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ (अन० टी० अ० ४।१०६)

जैसे इस लोक में पर-द्रव्य का हरण करने वाला चोर अपराधी होने के कारण पकड़ा जाता है, बाँधा जाता है, अनेक प्रकार दुःखी बनाया जाता है। किन्तु जो स्वद्रव्य में ही सन्तुष्ट रहता है, पर द्रव्य को कभी नहीं अपनाता, वह किसी प्रकार का अपराधी न होने से कभी नहीं बाँधा जाता। उसी प्रकार पर-द्रव्य को अपनाने वाला जीव भी अपराधी होने से बँधता है, किन्तु अपने आत्मा मात्र या अपने स्वरूप में ही लीन रहने वाला संयमी कभी बंध को प्राप्त नहीं होता।

यही अपरिग्रह महाव्रत की उपयोगिता है। जब तक सूक्ष्म से सूक्ष्म भी पर-वस्तु अपने पास रहेगी तब तक जीव को कभी पूर्ण शान्ति नहीं होगी। शरीर में चुभे हुए कांटे की तरह वह परद्रव्य या पर संयोगजनित भाव भी दुःखी बनाता रहेगा। इसलिये शाश्वत् सुख-शान्ति के लिए सम्पूर्ण बाह्य एवं अभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर देना ही उचित है। इसीलिये पूर्वोक्त लक्षण में कहा गया है कि अपरिग्रही के ज्ञान और संयम ही साथ में होने चाहिये, अन्य किसी वस्तु का परिग्रह नहीं होना चाहिये।

अपरिग्रह के लक्षण में एक बात यह कही गई है कि निर्ममत्व या मूर्च्छा का अभाव होना अपरिग्रह है। अपरिग्रह का यही वास्तविक लक्षण है। तत्वार्थ सूत्रकार श्री उमास्वामी ने भी "मूर्च्छा परिग्रहः" ऐसा लिख कर मूर्च्छा के अभाव को ही अपरिग्रह बताया है। इसका कारण यह है कि जब तक मूर्च्छा (राग भाव या आसक्ति) न हो तब तक परिग्रह पाप नहीं बन सकता। रागादि भावों से ही आत्मा का पतन होता है। यही भाव-हिंसा है, जो परिग्रह को (बाह्य द्रव्यों को) अपनाने से द्रव्य-हिंसा का भी कारण बन जाती है और परिग्रह को हिंसा का ही एक रूप सिद्ध करती है। इसलिए बाह्य द्रव्यों के पास में होने या न होने पर परिग्रह की व्यवस्था नहीं की गई है, अपितु परद्रव्यों में आसक्ति के होने एवं न होने पर ही परिग्रह एवं अपरिग्रह माना गया है। यदि परिग्रह का यह स्वरूप न माना जाय तो जिस दरिद्री के पास पहनने, खाने एवं रहने को कुछ भी नहीं है; किन्तु ऐसी सामग्री पाने के लिए जिसके लालसा लगी हुई है वह भी अपरिग्रही कहलावेगा और ज्ञान एवं संयम के उपकरण मात्र निर्ममत्व भाव से अपने पास रखने वाला संयमी भी अपरिग्रही नहीं माना जा सकेगा। इसलिये पास चाहे कुछ भी न हो, किंतु जिसके पर-पदार्थों को पाने की तीव्र लालसा है वह दरिद्री भी महापरिग्रही है और रागादि की तीव्रता से उसके कर्मबन्ध भी विशेष हुए बिना नहीं रहता। इसके विपरीत षट्खंड पृथ्वी का स्वामी होते हुए भी यदि कोई चक्रवर्ती अपने वैभव में ममत्व न रख उसका उदासीनता से उपभोग करे, जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह भी बाह्य विभूति से अपने अन्तरङ्ग को मलीन न होने दे तो वह उस दरिद्री की अपेक्षा अल्प मूर्च्छा का धारक होने से अल्प

परिग्रही होगा और उसके कर्मबंध भी कम होगा। भाव यह है कि कषाय बन्ध का कारण है। इसके बिना बन्ध नहीं हो सकता। इसीलिए ग्यारहवें बारहवें, तेरहवें गुणस्थान वाले जीवों के योग के द्वारा कर्म वर्गणा रूप पर-पदार्थों का ग्रहण होने पर भी बन्ध नहीं होता और उस कर्म ग्रहण में किसी प्रकार का ममत्व न होने से वे अपरिग्रही ही माने जाते हैं।

शङ्का—अन्तरंग में कषाय भावों के बिना बाह्य परिग्रह के ग्रहण से भी बन्ध नहीं होता, तब परिग्रह त्यागी के लिये बाह्य परिग्रह का त्याग अनिवार्य क्यों बताया गया है?

उत्तर—बाह्य परिग्रह को अपनाने पर या उसका संसर्ग रहने पर अन्तरङ्ग में भी ममत्व उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता। मूर्च्छा रूप कार्य से बचने के लिए उसके निमित्त से भी सर्वथा बचना अनिवार्य है।

५ भावनाएं

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च (तत्वार्थ० ७।८)

अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष न करना। ये परिग्रह महाव्रत की पांच भावनाएँ हैं। इनका स्वरूप इस तरह है:—

१ स्पर्शन-इन्द्रिय-इसके द्वारा शीत-उष्ण, रूखा-चिकना, कोमल-कठोर, हलका-भारी इन आठ स्पर्शों का ज्ञान होता है। अतः ये ही इस इन्द्रिय के ८ विषय हैं। इनमें से जिस स्पर्श वाली पुद्गल द्रव्य के विकार रूप वस्तु अपने को अच्छी लगे, उसमे तो राग (प्रीति, ममत्वभाव) न करना और जो वस्तु अपने को अच्छी न लगती हो उस में द्वेष (उसको हटाने या उसकी प्राप्ति न होने के लिये विचार व प्रयत्न) न करना। यही स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों में राग-द्वेष-वर्जन नामा पहली भावना है।

२ रसना-इन्द्रिय—इसके द्वारा मधुर (मीठा) आम्ल (खट्टा) कटुक (कड़ुआ) तिक्त (चरपरा) कषाय (कसैला) इन पाँचों रस वाली वस्तुओं का स्वाद लिया जाता है। इनमें से स्वादिष्ट लगे उस में राग और जो अस्वादिष्ट लगे उस में द्वेष का न करना यह रसना इन्द्रिय के विषयों में राग-द्वेष का वर्जन (त्याग) है।

३ घ्राण-इन्द्रिय—इसके द्वारा सुगंध-दुर्गन्ध का ग्रहण किया जाता है। सुगंधित—इत्र-पुष्पादि में राग व दुर्गंध—विष्टा मल-मूत्रादि में द्वेष भाव न रखना, यही इस इन्द्रिय के विषय सम्बन्धी राग-द्वेष वर्जन है।

४ चक्षु-इन्द्रिय—इसके द्वारा काला, पीला, नीला, लाल और सफेद इन पाँच वर्णों (रूपों व रंगों) का ग्रहण होता है। इन पाँच वर्णमय इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष का त्याग करना चक्षु इन्द्रिय के विषयों में रागद्वेष-वर्जन नाम की चौथी भावना है।

५ कर्ण-इन्द्रिय—इसके द्वारा अच्छे बुरे शब्द सुने जाते हैं, इनमें अच्छे मे राग व बुरे में द्वेष न करना इस इन्द्रिय का राग-द्वेष वर्जन है।

नोट—राग-द्वेष का स्वरूप तथा हानि पहले बतला चुके हैं और इन्द्रियों के विषय भोगने से हानि का वर्णन "पंचेन्द्रिय निरोध" नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जायगा।

जैनेतर ग्रन्थों में परिग्रह-त्याग की प्रशंसा

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ (कठोपनिषद्)

जब हृदय की सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, (अन्तरंग का परिग्रह नहीं रहता) तब यह मनुष्य अमर हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्ता संबोधः ॥३९॥
शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥
सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि ॥४१॥ (योगदर्शन साधन पाद)

जब परिग्रह त्याग में स्थिरता हो जाती है तब शरीर से भी ममता उठ जाती है। उस योगी के भूत, भावि और वर्त्तमान जन्म का परिज्ञान हो जाता है। वाह्य शुद्धि रूपी शौच से उसको अपने शरीर में भी ग्लानि हो जाती है। अर्थात् बार बार शुद्ध करने पर भी जब शरीर गन्दा व मैला बना रहता है तब इसकी असली हालत जान लेने से उस में ग्लानि हो जाती है। स्त्री आदि के शरीरों से संसर्ग रखने का भी अभाव हो जाता है। कषाय आदि की रहितता से अन्तः करण की शुद्धि, (आत्म-शुद्धि) मन की निर्मलता व एकाग्रता, इन्द्रियों का विजय और आत्म स्वरूप के अनुभव करने की योग्यता प्राप्त होती है।

त्यक्त्वा पुत्रादिकं सर्वं योगमार्गे व्यवस्थितः ।
इन्द्रियाणि मनश्चैव कषन् हंसोऽभिधीयते ॥१९॥
आत्मनिष्ठः स्वयं मुक्तस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥२३॥
चतुर्थोऽयं महानेषां ध्यानभिक्षुरुदाहृतः ॥२४॥ (विष्णु स्मृति अध्याय ४)

जो सब पुत्रादिकों को छोड़ ध्यान के मार्ग में स्थित हो कर इन्द्रियं और मन को आकृष्ट (वश) करता है वह चार प्रकार के सन्यासियों में तीसरा हंस कहलाता है। जो सब परिग्रहों को छोड़ कर पृथ्वी पर विचरण करता है, आत्मा में ही स्थित होकर-शरीरादि में ममत्व छोड़ कर-ध्यान द्वारा आत्मा में लवलीन होता है वह चौथा ध्यानभिक्षु (परम हंस) कहलाता है।

एकान्तशीलस्य दृढव्रतस्य मोक्षो भवेत्प्रीतिनिवर्तकस्य ।
अध्यात्मयोगैकरतस्य सम्यङ्मोक्षो भवेन्नित्यमहिंसकस्य ॥ (आपस्तम्ब स्मृति १०।७)

जो एकान्त में रहता है, व्रतों में दृढ है, स्त्री पुत्रादि सब से प्रीति हटा कर आत्म-स्वरूप के चिंतवन में ही तत्पर रहता है उस को मोक्ष की प्राप्ति होती है। अर्थात् वह कर्म बंधन से छूट जाता है।

कषायमोहविक्षेपलज्जाशंकादिचेतसः ।
व्यापारास्तु समाख्यातास्ताञ्जित्वा वशमानयेत् ॥१७॥
सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं तथा ज्ञानं शेषस्तु ग्रन्थविस्तरः ॥२१॥ (दक्ष स्मृति अ० ७)

कषाय, मोह विक्षेप (चित्त की चंचलता) लज्जा, शंका इत्यादि सब मन के व्यापार हैं अर्थात् मन इन क्रोध आदि विषयों में दौड़ लगाया करता है, अतः इन अन्तरंग परिग्रहों को जीत कर मन को वश में करना चाहिए। और सब संकल्प विकल्पों से रहित अन्तरात्मा बन कर परमात्मा के ध्यान में मग्न होना चाहिए। यही तो वास्तविक ध्यान है और यही ज्ञान है, बाकी जो कुछ शास्त्रों में कहा गया है वह उनका विस्तार ही है ।

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥
आकिञ्चन्यभवं सौख्यं कौपीनत्वेपि दुर्लभम् ।
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ (अवधूत गीता)

हे आत्मन् ! यदि देह को अलग करके अर्थात् उससे ममत्व छोड़ कर आत्मा में ही विश्राम लेकर रहेगा तो तू अभी सुखी, शान्ति का धारक और कर्म बंधन से रहित हो जायगा। यदि बाह्य सब परिग्रह छोड़ कर केवल लंगोटी भी रखी जाय तो, मेरा कुछ भी नहीं है—इस भाव से उत्पन्न हुआ परिग्रह रहित पने का सुख नहीं मिल सकता। क्योंकि कोपीन रखने से भी उसको लेने व छोड़ने आदि का संकल्प-विकल्प रूप ममत्व जनित दुःख बना ही रहता है। अतः मैं पर पदार्थों के त्याग व ग्रहण को छोड़ कर निराकुलता रूप सुख का धारक बन रहा हूँ ।

नोट—वैष्णव धर्म में अष्टावक्र नामक एक बड़े ऋषि हुए हैं। उन्होंने अवधूत गीता द्वारा यह उपदेश दिया है। वे स्वयं नग्न रहते थे। अतएव उन्हें नग्नता में जो वास्तविक सुख मिला उसी को उन्होंने उक्त श्लोकों द्वारा बतलाया है।

"अर्जयित्वाखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान् । न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत् ।"

यह मनुष्य चाहे खूब धन कमा कर पांचों इन्द्रियों के अच्छे २ भोग पूर्ण रीति से भोगे तथापि जब तक वह इन सब धन व भोगों का त्याग न करेगा तब तक (उन में तृष्णा बनी रहने से) कभी सुखी नहीं हो सकता ।

भर्तृहरि ने निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं की स्वरचित वैराग्य-शतक में निम्न प्रकार प्रशंसा की है—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्ष्यमक्षय्यमन्नं ।
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमपमलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ॥

(६०)

येषां निसङ्गतांगीकरणपरिणतिः स्वात्मसंतोषिणस्ते ।
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥५१॥

जिन साधुओं के भोजन व जल पान करने के लिये अपने हाथ ही पवित्र पात्र हैं, जिन्हें भ्रमण करने पर गृहस्थों के घरों से बिना मांगे ही भोजन मिलता है, वेशों दिशाएं ही जिनके वस्त्र हैं—इसी लिए जो दिगम्बर कहलाते हैं, विस्तीर्ण पृथिवी ही जिनके सोने के लिये शय्या (पलंग) है, जो किसी भी प्रकार के परिग्रह को रखने के लिये अन्तरंग में रुचि नहीं रखते, अपने निज-द्रव्य आत्मा में ही संतोषी हैं, जिन्होंने सारे दैन्य को नष्ट कर दिया है वे धन्य हैं और वे ही कर्मों का नाश करते हैं।

अशीमहि वयं भिक्षामाशावासोवसीमहि ।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥२०॥ (भर्तृहरि वैराग्य शतक)

हम भिक्षा से प्राप्त भोजन करते हैं, दिशाओं रूपी वस्त्रों को धारण करते हैं और पृथ्वी-तल पर सोते हैं, अब हमें राजाओं व सेठों से क्या मतलब है। जो इस उक्ति के अनुसार कभी किसी के सामने अपनी दीनता प्रकट करके उसकी खुशामद नहीं करते, ऐसे साधु ही धन्य हैं, और वे ही कर्म रूपी वृक्षों की जड़ उखाड़ते हैं।

भर्तृहरि ने उक्त रूप से निर्ग्रन्थता की प्रशंसा ही नहीं की, किन्तु भगवान से दिगम्बर मुनि बनने के लिये इच्छा भी प्रकट की है। यथा—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शंभो ! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥७०॥

हे प्रभो ! मैं कब इच्छा रहित, क्रोधादि कषायों के अभाव से शान्त, स्त्री-पुत्रादि सचेतन परिग्रह को छोड़ने से एकाकी, धन धान्यादि अचेतन परिग्रह को छोड़ कर हाथ रूपी पात्र में भोजन करने वाला, तथा दिशा रूपी वस्त्रों को धारण करने वाला दिगम्बर मुनि बन कर कर्मों का नाश करने में समर्थ होऊंगा ? भावार्थ—जिस दिन मैं दिगम्बर मुनि बनूंगा, वही दिन मेरे लिये धन्य होगा।

इति परिग्रह त्याग महात्मम् ॥

समिति-निरूपण

मुनिधर्म निवृत्तिमय है। निवृत्ति रूप आचरण ही कर्म-बन्धन का विनाश करता है। यह बात यथार्थ है तो भी प्रवृत्ति के बिना मुनियों का भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि उन्हें भी चलना, फिरना, खाना, पीना, स्वाध्याय करना, प्रायश्चित लेना, उपदेश देना, पुस्तकादि धरना-उठाना इत्यादि कार्य करने पड़ते हैं; जिनमे निवृत्ति से प्रवृत्ति में आना पड़ता है। और प्रमाद रहित यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना इनके लिये आवश्यक हो जाता है। समिति इसी का नाम है। अर्थात् जब मुनि निवृत्ति रूप महाव्रत मे नहीं ठहर सकते, तो भले प्रकार देख-शोध कर विचार पूर्वक मन, वचन, काय से यथायोग्य श्रुतानुकूल प्रवृत्ति करते हैं। यह समिति-सिद्धान्त में गणधर देवों ने पाँच प्रकार की वर्णन की है, उसके अनुसार आत्म-परिणति को वना कर प्रवृत्ति करो-ऐसा उपदेश है। अब इनका आचरण किस-किस प्रकार होता है सो खुलासा करते हैं। यथा—

इरिया-भासा-एसणा-णिक्खेवादाणमेव समिदीओ ।
पडिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥१०॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठापन समिति—ये पाँच समितियाँ हैं। सर्व संसारी जीवों के सम्पूर्ण व्यवहार इन पाँच समितियों में ही गर्भित हो जाते हैं।

अब इन पाँचों समितियों का पृथक्-पृथक् लक्षण तथा इनका आचरण सक्षेप में निरूपण किया जाता है:—

(६) ईर्या-समिति का लक्षण

फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहणा सकज्जेण ।
जंतूण परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥११॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—जो स्थान जीव रहित हो उसे प्रासुक कहते हैं। ऐसा ही स्थान मुनि के विहार योग्य है। जहाँ होकर मुनि को विहार करना है वह स्थान हाथी, ऊँट, बैल, गाड़ी, घोड़ा, भैंस, मनुष्य इत्यादि के संचार से मर्दित होना चाहिये। जब दिन हो; रात्रि का समय न हो, तब चार हाथ प्रमाण पृथ्वी को देख कर ही चलना उचित है। शास्त्रों का अध्ययन, गुरु-वन्दन, तीर्थ वन्दन, धर्म साधन, आहार-विहार या निहार के लिये अथवा प्रायश्चित शास्त्र समझने आदि के लिये देश-देशान्तर में गमन करना हो,तो मस्तक तथा हस्तादि को इधर-उधर नहीं घुमाता हुआ, जमीन को अच्छी तरह देख-शोध कर इस प्रकार पाँव धरे कि किसी जीव को बाधा न हो, तथा चलते समय वार्तालाप न करे, क्योंकि एक साथ दो कार्यों मे उपयोग नहीं लग सकता। जहाँ पर जमीन का रंग बदलता हो, जैसे पहले पीली भूमि थी बाद में काली आ गई तो वहां खड़ा रह कर पिच्छिका द्वारा पैरों से लेकर कमर तक अपने शरीर प्रदेशों को प्रमार्जन कर आगे बढे। कदाचित् चलते-चलते वृक्षों की छाया आवे तो वहाँ भी खड़ा रह कर अपने शरीर के प्रदेशों को पिच्छी से मार्जन कर आगे चले यदि मार्ग में नदी आ जावे तो नदी के तट पर खड़ा रह कर अपने घुटने तक पैरों की धूल को पिच्छी से मार्जन कर जल में प्रवेश करे, घुटने से ऊपर जल हो तो प्रवेश न करे। तथा जलाशय को पार करके तीर पर खड़ा रहे, कायोत्सर्ग करे। जब पाँवों का जल सूख जावे तब

चले, गीले पैरों से न चले। जहाँ हरित घास के अंकुर हों या पानी की सील हो, कीचड़ हो रही हो, हाथी, घोड़ा, ऊंट या सींग वाले पशु खड़े हों, या खूब जोर से वृक्षों के पत्र बिखर रहे हों, चींटियों के बिल हों ऐसे प्रदेशों को बचा कर चले। तथा ऐसे चले कि एक बार खडे रह कर २५ हाथ तक के जीवों को देख ले कि सामने कौन-कौन जीव आ रहे हैं? एक निगाह तो ऐसी रहे, और फिर चार हाथ प्रमाण देख-शोध कर जीव बचा कर चले। इतना शीघ्र न चले कि जिससे चींटी आदि छोटे जन्तुओं की रक्षा न कर सके। यही मुनियों के लिये ईर्यासमिति नाम का मूलगुण है।

कदाचित् कोई कर्म-प्रेरित जीव उड़ कर उस समय साधु के पैर के नीचे आ कर दब जावे तो वह साधु प्रायश्चित योग्य नहीं समझा जाता। क्योंकि देख-शोध कर चलने से उसके प्रमादजनित असावधानी नहीं है। दोष सरागं तो प्रमादयुक्त होने में है।

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥१०५॥ (मूला० पचा०)

भावार्थ—कैलाश, गिरनार, चंपापुर, पावापुर आदि तीर्थ क्षेत्र, या देव, धर्म, शास्त्र-श्रवण, प्रतिक्रमण आदि प्रयोजन के लिये ऊपर कही गई विधि प्रमाण अवलोकन कर चलने को ईर्या समिति कहते हैं।

यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि ईर्या का अर्थ है गमन- करना। गमन है नाम कर्म की प्रकृति। अर्थात् विहायोगति नाम कर्म के उदय से गमन होता है। वह दो प्रकार का है (१) शुभ विहायोगति (२) अशुभ विहायोगति। तेरहवें गुणस्थान तक शुभ और अशुभ दोनों विहायो गतियों का उदय है। जिसके जिस विहायोगति का उदय है, उसी के अनुसार उसके शुभ अथवा अशुभ गमन होता है। यदि इस गमन मे यत्नाचार न रखा जावे तो हिंसा जरूर होती है और उससे उत्पन्न होने वाले पाप बंध से प्राणी बच नहीं सकता। हाँ यह आवश्यक है कि— तेरहवें गुणस्थान वर्ती जीवों के गमन से तो किसी को बाधा नहीं होती; क्योंकि उनके तो अंडर, आवास, पुलवि, स्कंध, देश स्कंध आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान है, किन्तु छद्मस्थ जीवों के एकदेश प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ज्ञान है। इसलिये जीवों को बाधा होना संभव है। दशवें गुणस्थान पर्यन्त मुनि के यथाख्यात चरित्र नहीं होता, अतः विहायोगति नाम कर्म के उदय से जो दोष होते हैं उन से बचने के लिये एक जुड़ा अर्थात् चार हाथ प्रमाण भूमि को देख-शोध कर चलना, प्रमादी नहीं होना, निर्दोष संयम पालना, मुनि का कर्त्तव्य बतलाया गया है। मुनि के लिये धर्म तथा भिक्षादि कार्य के सिवाय अन्य कार्य हैं ही नहीं, आचारशास्त्र में वर्णित विधान के अनुसार दया मय भावों के साथ सावधान होकर गमन करना चाहिए। इसी का नाम ईर्या समिति है।

इस ईर्या समिति से संयमी साधु को यह अवश्य ज्ञात हो जाता है कि हमारी आत्मा में शान्ति रूप भाव पैदा हुए या नहीं? जब साधु विहार करते हैं तो उनको देख कर जन साधारण में से कोई स्तुति करता है तो कोई निन्दा, कोई गाली देता है और कोई गुण गाता है, कोई पत्थर से मारता है, कोई नमस्कार करता है, कोई तीक्ष्ण तिरस्कार करता है। उस समय संयमी साधु का क्या भाव होता है—इसका पता ईर्या समिति रूप प्रवृत्ति बिना कैसे चल सकता है? इसलिये यह ईर्या समिति जीवों को कल्याण का मार्ग बतलाने वाली और आत्म शुद्धि की पहचान कराने वाली, तथा त्रस-स्थावर सब जीवों में मैत्री भाव कराने वाली है अतः यह परम उपकारमयी प्रवृत्ति है।

यदि इस में दोष लगे तो जीवों को बाधा होती है और जहाँ जीव विराधना हो वहाँ महाव्रत रह नहीं सकता और जहाँ महाव्रत नहीं वहाँ मुनिपना कैसा ? इस से सिद्ध हुआ कि यह समिति महाव्रतों की जननी की रह रक्षा करती है, अतः मन, वचन, काय द्वारा इसे द्रव्य भाव रूप से पालन करना चाहिये। तभी सयमीपना सार्थक होता है अन्यथा नग्न रूप नटवत् हो जाता है। सो ही भाव पाहुड में कहा है :—

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

अर्थ—द्रव्य रूप से (बाह्य में) तो सम्पूर्ण प्राणी नंगे होते हैं। नारकी-तिर्यंच तो निरंतर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं। सकल संघात कहने से अन्य मनुष्यादि भी कारण पाकर नग्न हो जाते हैं, पर वे सब नग्न होने पर भी परिणामों से अशुद्ध होने के कारण श्रमणपने को प्राप्त नहीं होते, अतः नग्न वेष धारण कर उच्छृंखलपने से चलना कैसे योग्य हो सकता है। क्योंकि केवल द्रव्य-नग्नता से ही मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की विशुद्ध नग्नता से होता है। तबही नग्न वेष में पूज्यता है, अन्यथा नहीं। कोरा वेश तो मायाचार का पोषक है। इसलिये प्रवृत्ति में दोष नहीं लगाना यही जिनेन्द्रदेव का आदेश है। गमन करते समय सब प्राणियों को अपने समान समझ कर रक्षा करना यही संयमी का प्रधान लक्षण है और इससे संयुक्त ही संयमी मुनि श्रेष्ठ माना जाता है। अन्यथा नाम-मात्र का मुनि है।

७ भाषा-समिति

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी।
वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं ॥१२॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—झूठा दोष लगाने रूप पैशून्य, व्यर्थ हँसना, कठोर वचन बोलना, दूसरे के दोष प्रकट करने रूप पर-निन्दा; अपनी प्रशंसा, स्त्री कथा, भोजन कथा, राज कथा और चोर कथा इत्यादि वचनों को छोड़ कर अपने और पर के हित करने वाले वचन बोलना भाषा समिति कहलाती है।

भावार्थ—भाषा-समिति ही मुनि को लोक में पूज्य बनाती है। इसके बिना बाह्य परिग्रह से सर्वथा रहित भी मुनि नीच दृष्टि से देखा जाता है। इसके प्रकार नीचे लिखे अनुसार हैं:—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीचि भासासमिदी हवे सुद्धा ॥११०॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु अस्ति (सत्) रूप है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु नास्ति (असत्) रूप है इत्यादि सप्तभंगी नय, तथा प्रमाण, नय (नैगमादि) और निक्षेप के अनुसार वचन बोलना सत्य वचन है। जो सत्य नहीं और असत्य भी नहीं, ऐसा असत्यमृषा (सामान्य वचन) भी सत्य वचन है, तथा परवंचन (दूसरे को ठगना) इत्यादि दोष रहित वचन, हिंसादि पाप से वर्जित वचन एवं आगमानुकूल वचन यह सब सत्य वचन हैं। उक्त सत्य वचन का आवश्यकतानुसार उच्चारण करना ही भाषा-समिति है।

सत्य महाव्रत में दश प्रकार के सत्य वचनों का निरूपण कर चुके हैं। उनको देखना हो तो सत्य महाव्रत का प्रकरण पढ़िये।
अब यहाँ पर असत्यमृषा (सामान्य) वचन रूप सत्य के भेदों को कहते हैं:—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा छट्ठी इच्छाणुलोमा य ॥११८॥
संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा।
णवमी अणक्खरगया असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥११९॥ (मूला० पंचा०)

असत्यमृषा (अनुभय या सामान्य) भाषा के नौ भेद हैं—(१) आमंत्रणी, (२) आज्ञापनी, (३) याचिनी, (४) पृच्छनी, (५) प्रज्ञापनी, (६) प्रत्याख्यानी, (७) इच्छानुलोमिनी, (८) संशयवचनी, (९) अनक्षरी। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:—

(१) किसी को संबोधन कर बुलाना, जैसे देवदत्त! आओ, यह आमंत्रणी नाम की भाषा है।
(२) किसी को आज्ञा देना, जैसे यहाँ जाओ, यहाँ बैठो आदि आज्ञापनी भाषा है।
(३) किसी से कुछ माँगना, जैसे मुझे रोटी दो, कपड़ा दो आदि यह याचिनी भाषा है।
(४) किसी तरह का प्रश्न करना, जैसे आत्मा का लक्षण क्या है? यह पृच्छनी भाषा है।
(५) किसी से किसी प्रकार का निवेदन करना, जैसे हे स्वामी! यह मेरी विनती है, मुझे क्या करना चाहिए आदि प्रज्ञापनी भाषा है।
(६) किसी वस्तु का परित्याग करना, जैसे मैं अनछना पानी पीना छोड़ता हूँ, यह प्रत्याख्यानी भाषा है।
(७) दूसरे की इच्छाओं का अनुसरण करना, जैसे जो आपका विचार है वह ही मेरा है, यह इच्छानुलोमिनी भाषा है।
(८) जिसका अर्थ निश्चय रूप न हो, जैसे यह बगुलों की पंक्ति है या ध्वजा, ऐसी अनिश्चयात्मक भाषा को संशयवचनी कहते हैं।
(९) द्वीन्द्रिय को आदि ले असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों की तथा बालक और केवली की दिव्य ध्वनि अनक्षरमयी भाषा है। यह सब उपयोग में आने वाली भाषाएँ हैं।

मुनि जब बोले तब हित-मित प्रिय वचन ही बोले, जैसा कि पं० दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है कि:—

जग सुहित कर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरें।
भ्रम-रोग हर जिनके वचन मुख-चन्द्र तें अमृत झरें॥

एकेन्द्रिय से लेकर चौइन्द्रिय जीवों तक तो भाषा को सुनने की योग्यता ही नहीं। असैनी पंचेन्द्रिय सुनते हैं, बोलते हैं, किन्तु हित और शिक्षा के आलापों को ग्रहण नहीं कर सकते। बाकी रहे संज्ञी तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारकी, इनके भी दो भेद हैं—(१) भव्य, (२) अभव्य। इनमें भव्य ही आत्म-हित का पात्र है। अभव्यों में भी जो अपनी उन्नति चाहते हैं वे पुण्य प्रकृति को बाँध कर नव ग्रैवेयक तक आ सकते हैं। इन जीवों के

लिये भी जो उपदेश या आदेश करना हो उसमें भी हित-रूप अत्यन्त मधुर वाणी का ही प्रयोग करें ताकि वे उसे तत्काल ग्रहण कर संसार के दुःखों से यथायोग्य बच सकें। हितकारी, मधुर तथा सारपूर्ण वचनों को ही जीव तत्काल ग्रहण करते हैं। उन्हीं से जीवों का कल्याण होता है। इसलिये आगम के अनुकूल संशय विपर्यय, अनध्यवसाय रहित वचन ही साधुओं को बोलने चाहिये। हित, मित, प्रिय वचन बोलना ही भाषा-समिति की विशेषता है।

अब कैसी भाषा साधुओं को नहीं बोलनी चाहिये यह दिखाते हैं:—

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥८३०॥

जत्तोपाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ।
अविचारित्ता थेणं, थेणुत्ति जहेवमादीयं ॥८३१॥

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८३२॥ (भग० आ०)

अर्थ—कर्कश-गर्वयुक्त वचन, निष्ठुर वचन, पैशून्य-दूसरों की चुगली करने वाला दोष प्रकट करने वाला वचन, उपहास वचन, मन चाहा बकवाद-युक्त भाषण-ये सब गर्हित वचन हैं। इस प्रकार संक्षेप से गर्हित वचन बतलाया गया है। जिस वचन से प्राणि हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उसे सावद्य वचन कहते हैं। जैसे इस भूमि को खोद डालो, इस भैंस ने पानी पी लिया है। अब इसे जल से धो डालो। पुष्प तोड़ लो इत्यादि सावद्य (पापजनक) वचन हैं। योग्य, अयोग्य का विचार किये बिना ही बोल देना अथवा अमुक वचन सदोष या निर्दोष है—ऐसा सोचे बिना ही बोल देना, जैसे चोर को चोर कहना यह सब सावद्य वचन माना गया है।

मर्म छेदन करने वाले वचन को परुष वचन कहते हैं, जैसे तू अनेक दोष-दूषित है। मन को उद्विग्न करने वाले वचन को कटु वचन कहते हैं।। जैसे तू निन्दनीय जाति में उत्पन्न हुआ है, तू धर्मशून्य पापी है इत्यादि। लड़ाई-झगड़ा उत्पन्न करने वाले वचन को कलहवचन कहते हैं, जैसे तू गधा है, तुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है, बेवकूफ है, तेरे समान मूर्ख ससार भर में कोई नहीं है इत्यादि वचन को कलहकारी वचन कहते हैं। भय उत्पन्न करने वाले वचन को भयवचन कहते हैं। मन में त्रास व क्लेश पहुँचाने वाले वचन को उत्त्रासन वचन कहते हैं। दूसरों की अवज्ञा, तिरस्कार करने वाले वचन को हीलन वचन कहते हैं, जैसे तुम्हें धिक्कार है इत्यादि। इस प्रकार संक्षेप से अप्रिय वचन का वर्णन किया।

दोहा—चेतन-चंदन-वृक्ष को, कर्म-सर्प लिपटाय।
बोलत गुरु-बच-मोर के, शिथिल होय हट जाय॥

कहने का तात्पर्य यह है कि वचनों में वह शक्ति होती है जिससे कर्म बन्धन ढीले हो जाते हैं। कषाय रहित वचनों में एक प्रकार का आकर्षण हुआ करता है वह अचिन्तनीय है, इसलिए वचन बोलने में साधु को सदा सावधान रहना चाहिए।

स्त्रियों के शृंगार, हाव, भाव, विलास, विभ्रम, रूप, क्रीडा आदि द्वारा कामोत्तेजन करने वाली, दूषित नाटकादि के व्याख्यान द्वारा ब्रह्मचर्य को भंग करने वाली स्त्री-कथा, तथा खानपान में राग बढ़ाने वाली भोजन कथा, रौद्र कर्म से उपजी राजकथा, चोर-कथा, मिथ्यादृष्टि कुलिंगियों की कथा, शृंगार कथा, रस कथा, नट कथा, भाट कथा, धन कथा, दुष्ट कथा, तिरस्कार कथा, मिथ्यात्व पोषक शास्त्रों की कथा हिंसा को पोषण करने वाली हिंसा कथा आदि विकथाएँ न स्वय करे, न दूसरों से करवावे और न करने वाले की अनुमोदना करे, यही मुनि कर्तव्य है। इसी भाषा-समिति का पालन करने वाले समय पाकर दिव्य-ध्वनि जैसी भाषा को प्राप्त होते हैं, जिसे सुनकर भव्यजीव संसार से पार हो जाते हैं। यह भाषा परम कल्याण करने वाली तभी बन सकती है जब कि इस पर पूर्ण अंकुश रखा जावे। बहुत सोच विचार कर चुना हुआ शब्द मुख से निकाले। जो मनुष्य (साधु या गृहस्थ) बिना आगा पीछा सोचे अनावश्यक, बहुत अधिक, अहित और अप्रिय बहुत अधिक बोलता है उसके भाषा समिति कदापि नहीं हो सकती। इसलिये सोच थोड़ी और सयत भाषा बोले। थोड़ा बोलने वाले की भाषा मान्य होती है। उसमे मन्त्र की सी शक्ति आ जाती है। जो साधु भाषा-समिति का पूरी तरह पालन करता है उसके वचन मन्त्र का सा असर करने वाले होते हैं। जिससे जीवों का इस लोक और परलोक संबंधी हित स्वतः हो जाता है। अतः साधुओं को भाषा पर पूर्ण अधिकार रख कर उच्चारण करना चाहिए।

८ एषणा-समिति

उग्गमउप्पादणएसणेहिं पिंडं च उवधिं सज्जं च ।
सोधंतस्स य मुणिणो परिसुज्झइ एसणा समिदी ॥१२१॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—उद्गम, उत्पादन, एषण, संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम, कारण इन आठ दोषों को बचा कर पिंड, (आहार, वसतिका) उपधि (पिच्छिका, कमण्डलु, शास्त्र) और शय्या आदि को भले प्रकार देख शोध ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि इन वस्तुओं की उत्पत्ति के समय में हिंसा होती है, इनसे बचना ही निर्दोष एषण समिति है।

प्रश्न—मुनि इन दोषों से कैसे बचे ? और आहार किस प्रकार ले ?

उत्तर—योग्य विधि के अनुसार प्रवृत्ति करके। उदाहरणार्थ मुनि जिस देश में विहार करे, वहाँ की प्रवृत्ति–रीति से उसको परिचित होना चाहिए। श्रावक लोग जैसी परिस्थिति में हों, मुनि भी उसी योग्य अपनी संयमानुकूल चर्या बना ले, ताकि श्रावकों को मुनि के लिये दुविधा या आरभ में न पड़ना पडे। अन्यथा मुनि का उद्दिष्ट दोष से बचना कठिन है।

अब मुनि की चर्या कैसी होनी चाहिए, इसका स्पष्ट विवेचन करते हैं :—

प्रातःकाल सामायिकादि षट् कर्त्तव्यों से निवृत्त होकर दो घड़ी दिन चढ़ने के पश्चात् श्रुत-भक्ति एवं गुरुभक्ति पूर्वक वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश इनमें से इच्छानुसार किसी भी प्रकार का स्वाध्याय करे और भोजन के समय से दो घड़ी पहले तक इस स्वाध्याय को पूर्ण करले। पश्चात् श्रुत भक्ति, गुरुभक्ति पढकर पुनः शारीरिक मल मूत्रादिक की बाधा को समिति पूर्वक मिटाकर हस्त पाद इत्यादि का प्रक्षालन करे। फिर देव वंदना आदि करके पिच्छिका, कमण्डलु सहित भिक्षा-चर्या के लिए उद्यत होवे।

अब बालक, वृद्ध, रोगी या अन्य लिंगियों की भिक्षा-वेला निकल गई है। ओखली-मूसलादि की धमाधम मिट गई है। गृहस्थों के गृह-कार्य शांत हो गये हैं इत्यादि बातों से गोचरी का समय समझ कर चर्या के लिये प्रयाण करे। न जल्दी चले, न बिलकुल धीरे-धीरे, न इधर उधर लीला पूर्वक गमन करे। किन्तु अत्यन्त सात्विक रीति से चले। "भिक्षा कौन देगा" ऐसा विचार कदापि न करे। धनी, निर्धन का विचार भी मन में न लावे। नीच कुल में, हास्य करने वालों के घर में, अथवा सूतकादि युक्त उच्च कुल में या जहाँ द्वारपाल रोके ऐसे स्थानों मे कभी प्रवेश न करे। जहाँ तक बिना रोक टोक सब जा सकें वहीं तक जाय, आगे नहीं। हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा इत्यादि सींग वाले तथा जहरीले जानवरों के स्थान को दूर ही से छोड़े। जहाँ स्त्रियाँ स्नान करती हों, स्त्री-पुरुष क्रीड़ा करते हों, उधर न जाय। कोई विनय पूर्वक जहां प्रतिग्रह (पडगाहना) करते हों वहाँ ही ठहर जाय और भले प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक दिया हुआ शुद्ध-प्रासुक आहार सिद्ध भक्ति पूर्वक ग्रहण करे। नाभि तक झुक कर या सरासराहट करता हुआ, तथा मुख से ध्वनि करता हुआ मुनि आहार न ले। आहार करते समय अञ्जुली इस प्रकार पाँधे कि उस में छिद्र न रहे, अञ्जुलीपुट छूट न जाय, अधिक जल नीचे न गिरे। दातार, पुरुष हो या स्त्री, उसके शृंगार, वेष भूषा या दाँत, जाँघ, मुख, हाथ पैर आदि अंगों को न निरखे। जैसे तैसे निर्दोष रीति से अपने उदर को भर कर मुखशुद्धि करे। फिर हस्त पाद धोकर एवं प्रासुक जल से कमण्डलु भरा कर वहाँ से प्रस्थान करे।

मुनि धर्म-कार्य को छोड़कर अन्य समय गृहस्थ के घर कदापि न जाय। इस प्रकार निर्दोष भोजन ग्रहण करना मुनियों की एषणा समिति कहलाती है।

यह भोजन, क्षुधा वेदनीय कर्म जनित वेदना के उपशमार्थ, साधु-संघ के वैयावृत्त्य के लिये, ध्यान, स्वाध्याय आदि की सिद्धि के लिये, तथा धर्म साधन के कारण भूत शरीर की स्थिरता के लिये ग्रहण किया जाता है। इसलिये ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना, मीठा, कडुवा, कषायला, खारा, चरपरा जैसा भोजन मिले उसमे राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। दातार ने जो भोजन अपने कुटुम्ब के लिये बनाया हो, नव कोटि (कृत,कारित,अनुमोदनासे गुणित मन, वचन, काय) से विशुद्ध हो, वही भोजन सयमी को ग्रहण करना उचित है। यही जिनागम की आज्ञा है। ४६ दोष तथा ३२ अन्तराय रहित, शुद्ध प्रासुक भोजन धर्म साधन मे सहायक होता है, यही एषणा समिति का तत्त्व है। यह शरीर धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ का साधक है तथा स्वपर की रक्षा स्वरूप संयम की साधना का निमित्त कारण है। इसलिए इसको व्यर्थ कष्ट न देते हुए चलाते रहना तो आवश्यक है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि सूत्रानुकूल, दोषरहित, आहार ही धर्म साधन में निमित्त कारण हो सकता है। इसलिये वीर-चर्या अर्थात् अयाचिकवृत्ति (दीनता रहित परणति) से आगमानुकूल ही इसकी परिचर्या करनी चाहिए। अन्यथा एषणा समिति मे दोष आये बिना न रहेगा।

प्रश्न—चर्या को जाते हुए मुनि से कोई प्रश्न पूछ बैठे तो उसका उत्तर दे या नहीं?

उत्तर—प्रश्न उत्तर देने योग्य है या नहीं, ऐसा विचार कर उचित समझे तो अवश्य उत्तर दे, किन्तु बड़ी सावधानी तथा शान्ति से ठहर कर उत्तर दे। चलते-चलते नहीं। वह भी सिर्फ भव्य की जिज्ञासा को वस्तु विवेचन से शान्त करने के लिये, अन्यथा मौन रक्खे। तथा यज्ञशाला, भोजनशाला या जहाँ स्त्रियों की भीड़ हो, कीचड़ हो, हरित अकुर हो, वहाँ पर मुनि गमन न करे।

इस एषणा समिति मूलगुण के दो भेद हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य रूप से एषणा समिति का वर्णन कर दिया। अब विशेष रूप से वर्णन करते हैं, जैसा कि पिंडशुद्धि अधिकार में महर्षियों ने बतलाया है। इसका मुनि को ध्यान पूर्वक मनन करना चाहिये। क्योंकि

इसके अध्ययन के बिना उद्दिष्ट और अधः कर्म जैसे महा दोषों से नहीं बचा जा सकता। अतः साधु गण इन दोषों को टालते हुए, पंचाचार रूप धर्म की रक्षा के निमित्त, सप्त गुण-युक्त दाता के द्वारा, नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया ही आहार ग्रहण करते हैं यहाँ उसी का खुलासा किया जाता है।

दाता के सातगुण

"श्रद्धा तुष्टिर्भक्ति विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्त्वम्।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥"

अर्थ—श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, निर्लोभिता, क्षमा, सत्त्व इन सप्तगुण युक्त दातार ही प्रशंसा के योग्य है। इन सातों का पृथक् पृथक् लक्षण इस प्रकार है:—

१ श्रद्धा—आज मेरा अहो भाग्य है, जो मेरे घर पर ऐसे निर्ग्रंथ वीतराग साधु पधारे, जिनकी इन्द्रादि देव भी स्तुति करते हैं। आज मैं, मेरा कुटुम्ब और मेरा सब कुछ सफल हो गया कि मैंने अतिथि-संविभाग का सौभाग्य पाया। मेरे हाथ भी धन्य हैं, जो ऐसे उत्तम कार्य में प्रवृत्त हुए हैं, इत्यादि हर्ष युक्त विश्वास रखना श्रद्धागुण है।

२ भक्ति—चित्त में ऐसा भाव नहीं रखना कि आज मेरे यहाँ यह साधु आ गये, वे नहीं आये। जो भी आये हों उनको भक्ति युक्त हर्ष सहित निरंतराय अपनी योग्यतानुसार आहार देना, भक्ति गुण है।

३ तुष्टि—आप आहार देना जाने और दूसरा नहीं देना जाने तो घमंड कर उसको नीची दृष्टि से न देखे, समभाव रक्खे। अहा! दूसरे के घर मुनि का आहार होगया, मेरे यहाँ क्यों नहीं हुआ, इत्यादि रूप से मन में असंतुष्ट न होना; किन्तु आहार दान की भावना भाते रहना, आहार देने का योग न मिलने पर भी संतोष रखना, हताश न होना, तुष्टि (संतोष) नामा गुण है।

४ विज्ञान—आहार देने की विधि को ठीक २ जानना। जिससे दातार और अतिथि को कोई दोष न लगे एवं किसी तरह की कठिनाई न हो। ऋतु (मौसम) और पात्र की प्रकृति आदि जान कर योग्य वस्तु का आहार देना विज्ञान गुण है।

५ निर्लोभिता—दान देकर इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी फल की वांछा नहीं करना।

६ क्षमा—आहार देते समय यदि कोई अन्तराय हो गया हो तो मन में यह विचार करना कि आज इतना ही आहार होने वाला था सो हो गया इसमें खेद की क्या बात है। यदि किसी खास कारण से पात्र घर से विना आहार लिये चला जावे अथवा अन्य कोई क्रोध का कारण मिल जावे तो भी क्रोध न करना, क्षमा नाम का गुण है।

७—साधु से मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार शुद्धि आदि कहना पड़ता है, इसलिये आहार के समय पूर्ण सत्य मय प्रवृत्ति रखना, नवकोटि सत्य का पालन करना, सत्य नाम गुण है।

अब आहार दान के समय दातार के द्वारा करने योग्य मुनियों की नवधा-भक्ति का वर्णन करते हैं।

"प्रतिग्रहोच्चस्थानञ्च पादक्षालनमर्चनम् ।
प्रणामो योगशुद्धिश्च, भिक्षाशुद्धिश्च ता नव ॥"

अर्थ—प्रतिग्रह (पडगाहना), उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनशुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और आहार जल शुद्धि, ये नव प्रकार की भक्ति कहलाती है।

दान के समय भक्ति नो प्रकार की ही बतलाई गई है। कम या ज्यादा नहीं, क्योंकि कम से मुनियों में शिथिलाचार, और अधिक से सिद्धान्त की अवहेलना होती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि पूजन के लिए कदाचित् अष्ट द्रव्य का योग नहीं मिले तो जलादिक एक या एकाधिक द्रव्य से भी पूजन की जा सकती है। इसी प्रकार नमस्कार में सिर्फ विनीत भाव की मुख्यता है, इसलिए दण्डवत (डंडे की तरह) नमस्कार का ही आग्रह नहीं होना चाहिये। इसी तरह भोजन परोसते वक्त कोई गर्म पदार्थ जमीन पर नहीं गिर जाय इसका विचार रखने की आवश्यकता है। दातार जब मुनि का पड़गाहन कर घर के अन्दर ले जाता है तो वह आगे चलता है और मुनि पीछे रहते हैं। उस वक्त वह पीठ देकर चल रहा है, ऐसा दोष नहीं मानना चाहिये क्योंकि पीठ देना तो वह कहलाता है कि पात्र तो घर पर आवे और आप मुंह फेर ले या उसे देखा करे, पडगाहन न करे। इस प्रकार आचार्यों ने नवधा भक्ति पूर्वक ही आहार देने का विधान किया है। साधु को इस नवधा भक्ति पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

१ प्रतिग्रह—भो स्वामिन्! नमोस्तु, अत्र तिष्ठ २, इस प्रकार बोलकर अथवा हे स्वामिन् यहाँ ठहरो २, ऐसा कह कर मुनि को पड़गाहना आहार ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करना अर्थात् मुनीश्वर को उक्त प्रकार बोल कर अपने साथ घर के भीतर ले जाना।

प्रश्न—जब मुनि भोजन के वास्ते आवें उस समय कोई नमोस्तु न कहे तो मुनि लौट जायँगे, या आहार ग्रहण करेंगे?

उत्तर—श्रावकों को ध्यान में रखने की बात है कि वे जब दिगम्बर मुनियों को अपना गुरू मानते हैं तो उनको देखते ही नमोस्तु कह कर उनको अपनी गुरु भक्ति प्रकट करना चाहिये, यह तो श्रद्धा और भक्ति-निष्ठा का प्रदर्शन है। इसलिये वह अपने यहाँ भोजन के वास्ते ठहरे या नहीं ठहरे, परन्तु गृहस्थों का प्रथम कर्तव्य नमोस्तु कहने का ही है। कारण कि साधु लोग भी तो भक्ति भाव देख कर ही भोजन लेते हैं। इसलिये गृहस्थों को नमोस्तु अवश्य कहना चाहिए।

२ उच्च स्थान—मुनिश्वर को घर में ले जाने के बाद जीव जन्तु रहित शुद्ध स्थान मे चौकी पट्टा आदि ऊँचे आसन पर बैठना।

३ पाद प्रक्षालन—मुनीश्वर के पैरों को प्रासुक जल से इस तरह धोना कि नीचे का भाग सूखा न रहे।

४ अर्चन—जल, चंदन आदि अष्ट द्रव्यों से अथवा उस समय जितने (एक दो आदि) द्रव्य प्राप्त हों उनसे पूजा करना।

"उदकचंदनतंदुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः ।
धवलमंगलगानरवाकुले निजगृहे मुनिराजमहं यजे ॥"

ऐसा बोल कर अर्घ चढ़ाना चाहिये। अगर इस तरह नहीं बोलना जाने तो "अर्चामि" कह कर चढ़ा देना चाहिये।

(५) प्रणाम—भक्तिपूर्वक भूमि पर जीव-जन्तुओं को देखकर अष्टांग या पंचांग नमस्कार करना। मस्तक भूमि पर लगना ही चाहिये इत्यादि बातों की यहाँ आवश्यकता नहीं। इसमें तो केवल श्रावक की भक्ति मात्र देखी जाती है। परन्तु जमीन पर बैठ कर नमस्कार करना चाहिये।

(६) मन-शुद्धि—मन में प्रसन्नता आदि का होना।

(७) वचन शुद्धि—सरलता पूर्वक योग्य वचनों का बोलना।

(८) कायशुद्धि—शरीर को स्नानादि से शुद्ध कर धुले हुए स्वच्छ वस्त्र धारण करना, तथा जीवों को गमनागमन से बाधा नहीं पहुँचाना, इन तीनों शुद्धियों को वचन द्वारा भी कहना कि मेरे मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि है। और प्रकृति भी वैसी ही रखनी चाहिये।

(९) भिक्षाशुद्धि—इसके बाद कहना कि आहार-जल शुद्ध है, ऐसा बोल कर कहे "महाराज! भोजनशाला में पधारिये।" पश्चात् भोजन परसने आदि की विधि अतिथि संविभाग व्रत में बतलाई जावेगी, वहाँ से जानना। मुनि दान का विशेष वर्णन श्रावक धर्म के षट्कर्तव्यों में करेंगे।

अब यहाँ पर छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायों को टाल कर निर्दोष आहार कैसे होता है, यह दिखाते हैं—

संयमी की पिण्डशुद्धि के आचार्यों ने सामान्य से आठ भेद माने हैं। यथा—(१) उद्गम दोष, (२) उत्पादन दोष, (३) अशन दोष, (४) संयोजन दोष, (५) प्रमाण दोष, (६) धूम दोष, (७) अङ्गारक दोष, (८) कारण दोष, इस प्रकार आठ दोष कहे हैं। इनके अलावा दो दोष और हैं—(१) मल दोष और (२) अंतराय दोष। इनका खुलासा ऋषि प्रणीत ग्रन्थों के आधार पर किया जाता है।

आधाकम्मुद्देसिय, अज्झोवज्झेय पूदिमिस्से य ।
ठविदे बलिपाहुडिदे, पादुक्कारेय कीदे य ॥ ३ ॥
पामिच्छे परियट्टे, अभिहडमुब्भिण्ण मालआरोहे ।
आच्छिज्जे अणिसट्ठे, उग्गमदोसा दु सोलसिमे ॥४॥ (मूला० पिं०)

दातार के आश्रित ये १६ उद्गम दोष हैं, इनका वर्णन आगे कर रहे हैं।

सब से पहले छियालीस दोषों से भी बढ़कर अधःकर्म दोष है, अतः उसका वर्णन करते हैं:—

"खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥"

ऊखली, चक्की, चूल्हा, परंडा और बुहारी—ये पाँच सूना अर्थात् हिंसा के स्थान हैं। यह गृहस्थाश्रित आरम्भ कर्म है, इसे अधःकर्म कहते हैं। यद्यपि यह दोष गृहस्थ के आश्रित ही है, जैन साधु इसको कदापि नहीं करते, तथापि आचार्यों ने मुनियों के प्रकरण में इसको इसलिये दिखाया है कि कुलिङ्गी साधु इस कर्म को करते हुए भी अपने को साधु घोषित करते हैं। उनकी असाधुता दिखाने के लिये ही इस (अधःकर्म) दोष को ४६ दोषों से भिन्न एक महान दोष बतलाया है। क्योंकि इसमें छह काय के जीवों की नियम से विराधना होती है। यही कहा है—

छज्जीवणिकायाणं, विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं ।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥ ५ ॥ (मूला० पिंड०)

अर्थात्—छह काय के जीवों के मारण, तारण, पीड़न आदि से उत्पन्न हुआ जो भोजनादि है वह आधा कर्म (अधःकर्म) है । चाहे उसे स्वयं अपने हाथ से करे, चाहे दूसरे से करवावे अथवा दूसरे से किये हुए की अनुमोदना करे, सब बराबर माना गया है।

दाता के आश्रित पूर्वोक्त १६ उद्गम दोषों को कहते हैं—(१) औद्देशिक दोष, (२) अध्यधि दोष, (३) पूति दोष, (४) मिश्र दोष, (५) स्थापित दोष, (६) वलि दोष, (७) प्रावर्त्तित [प्राभृत] दोष, (८) प्रादुष्करण [प्राविस्करण] दोष, (९) क्रीत दोष, (१०) प्रामृष्य दोष, (११) परिवर्त्तक दोष, (१२) अभिहृत,[अभिघट] दोष, (१३) उद्भिन्न दोष, (१४) मालारोहण दोष, (१५) अच्छेद्य दोष, (१६) अनीशार्थ दोष । इनका भिन्न-भिन्न स्वरूप इस प्रकार है:—

१ औद्देशिक दोष

किसी साधु आदि के उद्देश से बनाये हुए भोजनादि को लेना 'औद्देशिक दोष' है । इसके चार भेद हैं—(१) उद्देश, (२) समुद्देश, (३) आदेश, (४) समादेश ।

(१) हमारे घर आज कोई भी भेषी आवें उन सब को भोजन दूंगा, यह उद्देश है। हमारे घर कोई भी पाखण्डी भोजन को आवेंगे उन सब को भोजन दूंगा, ऐसा पाखण्डियों का उद्देश्य जहाँ हो वह समुद्देश है।

आज मैं कांजिक आहार करने वाले तपस्वी परिव्राजक या रक्तपट भोजन को आवेंगे तो उन सब को दूंगा, इसे आदेश कहते हैं। आज हमारे घर जो कोई भी निर्ग्रंथ साधु भोजन को आवेंगे तो उन सब को भोजन दूंगा, ऐसा अभिप्राय होना समादेश है। इस प्रकार चारों ही सकल्पों से बना हुआ भोजन मुनि के योग्य नही। गृहस्थ ने जो भोजन अपने व अपने कुटुम्ब के लिये बनाया हो वही भोजन वही साधु के भी योग्य है। साधु के लिये बना हुआ भोजन साधु को कभी नहीं लेना चाहिये।

२. अध्यधि दोष

संयमी को आता हुआ देखकर अपने निमित्त जो भोजन बनाया है, उसमें जल, चॉवल आदि और मिला कर अधिक भोजन बनाना अथवा जब तक वह भोजन तैयार हो तब तक सयमी को प्रश्नादि के बहाने से रोक रखना यह अध्यधि नामक दोष है ।

३ पूति दोष

इसके दो भेद हैं—१ अप्रासुक मिश्रपूति, २ पूति-कर्म कल्पना। जो प्रासुक भी आहार अप्रासुक द्रव्य से मिला हो उसे अप्रासुक मिश्रपूति दोष कहते हैं। पूति-कर्म-कल्पना दोष पॉच तरह से होता है—१ चूली, २ ओखली, ३ कड़छी, ४ पकाने के बर्तन, ५ गन्धयुक्त पदार्थ। ये नये बना कर संकल्प करे कि इनमें से जब तक साधु को आहार न दूँ तब तक मै भी भोजन न करूँगा न अन्य को दूंगा। इनमें संस्कार किया भोजन सब से पहले साधु को देंगे, इस प्रकार पूति कर्म की कल्पना से निष्पन्न हुआ प्रासुक भोजन भी साधु को देने योग्य नहीं है।

४ मिश्र दोष

प्रासुक भी भोजन यदि अन्य-वेषी पाखण्डी, या गृहस्थों के साथ साधुओं को देने का उद्देश्य हो तो वह मिश्र दोष है।

५ स्थापित दोष

जिस पात्र में भोजन बनाया है उससे निकाल कर दूसरे पात्र में लेकर अपने घर या अन्य घर में ले जाकर धर दे कि यह भोजन संयमी को ही देंगे अन्य को नहीं, यह स्थापित दोष है।

६ बलि-दोष

यक्ष नागादि के निमित्त भोजन बनाया हो, उसमें से बचा भोजन संयमी के आने पर उसको देना सो बलि दोष है। अथवा संयमियों के आगमन के निमित्त सावद्य कर्म करना सो बलि-दोष है।

७ प्रावर्तित (प्राभृत) दोष

संकल्पित काल की हानि वृद्धि करके भोजन देना सो प्रावर्तित दोष है। यह दो प्रकार का है—बादर तथा सूक्ष्म। किसी गृहस्थ ने ऐसा संकल्प किया कि हमारे दान देने का शुक्ला अष्टमी का नियम है। अतः अष्टमी के दिन पात्र का अवलोकन करेंगे, यदि संयोग मिल जावेगा तो दे देंगे और दिन नहीं, ऐसा नियम कर शुक्ल पंचमी को देना, अथवा पंचमी का नियम करके अष्टमी को देना। ऐसे ही शुक्लपक्ष का नियम कर, कृष्णपक्ष में देना और कृष्णपक्ष का नियम कर शुक्लपक्ष में देना। चैत्र का नियम कर फाल्गुन में देना, अथवा अन्य किसी महीने में देना। अगले वर्ष का नियम कर इसी वर्ष में देना और इसी वर्ष का नियम कर अगले वर्ष में देना, ये सब बादर प्रावर्तित दोष हैं। कोई संकल्प करे कि पूर्वाह्ण में पात्र आजावे तो हम आहार देंगे, अपराह्ण में नहीं अथवा अपराह्ण में दान देने का हमें अवकाश है, पूर्वाह्ण में नहीं, इत्यादि काल का संकल्प करके और फिर उसे पलट करके आहार देना सो सूक्ष्म प्रावर्तित दोष है। ऐसे भावों से संक्लेश रूप परिणाम हो जाते हैं, इसलिए ऐसा करना ठीक नहीं है।

८ प्रादुष्करण दोष

संयमी के आने पर भोजन बना कर भोजन तथा बर्तनों को अन्य स्थान पर रख कर संयमी को आहार देना। तथा साधुओं के आने पर पात्र को भस्मादिक से मांजना, जल में धोना, बर्तनों का फैलाना, मण्डप का उद्योत करना, दीपक उजालना आदि सब प्रादुष्करण दोष हैं। इसमें जीव बाधा का दोष साक्षात् दिखाई देता है।

९ क्रीत दोष

जब संयमी भिक्षार्थ आवे तब अपना सचित्त अथवा अचित्त द्रव्य देकर आहार की सामग्री इन्हीं के अर्थ लावे और आहार देवे। गाय भैंस इत्यादि सचित्त तथा सोना, चाँदी, मत्र, विद्यादि अचित्त द्रव्य अन्य को देकर भोजन का सम्मान खरीदना और मुनि को आहार देना यह क्रीत दोष है।

१० प्रामृष्य (ऋण) दोष

साधु को भिक्षा में देने के लिये दाता दूसरे के घर से भोजन सामग्री उधार लावे और ऐसा कहे कि हमारे घर साधुओं को आहार देना है अतः हमें इतना सामान दो। हम इतना ही या ब्याज सहित अधिक तुम को दे देंगे। इस प्रकार वृद्धि सहित या वृद्धि रहित भोजन उधार लाकर साधु को देना, प्रामृष्य दोष है। यह दाता के लिये खेद या क्लेश का कारण है।

११ परिवर्तक दोष

संयमी को आहार देने के लिये व्रीहि देकर शालीधान्य अथवा शाली देकर व्रीहि धान्य आदि पड़ोसी से बदला कर लेना परावर्त दोष है, यह भी दातार के लिये सक्लेश का कारण है।

१२ अभिहृत (अभिघट) दोष

यह दो प्रकार का है। १ देशाभिहृत; २ सर्वाभिहृत। एक देश से आया भोजन सो देशाभिहृत है, सर्व स्थान से आया भोजनादिक सो सर्वाभिहृत है। देशाभिहृत भी दो प्रकार का है—१ आचीर्ण, और २ अनाचीर्ण। एक पंक्ति मे रहने वाले जो तीन अथवा सात घर उनसे आया जो आहार सो साधु के लेने योग्य है। उसे आचीर्ण कहते है। अथवा एक पक्ति मे नहीं रहने वाले जो घर उनसे लाया हुआ भोजन अनाचीर्ण अर्थात् अयोग्य है। अथवा एक पक्ति में स्थित भी सात से अधिक घरों से लाया हुआ भोजन अनाचीर्ण (अयोग्य) है।

सर्वाहृत दोष चार प्रकार का है—(१) स्वग्राम, (२) परग्राम, (३) स्वदेश, (४) परदेश।

जहाँ आप स्थित है सो स्वग्राम है, इससे अन्य परग्राम है। उनमे एक पाड़े (मुहल्ले) से दूसरे पाड़े में भोजन लाना, तथा अन्य ग्राम से अन्य ग्राम में भोजन लाना, अथवा पर-ग्राम वा परदेश से अपने ग्राम में भोजन लाना सो सर्वाहृत दोष है। क्योंकि जिस समय साधु लोग भोजन करते हैं, उस समय स्वग्राम या परदेश से भोजनादि लाना अयोग्य है। अथवा पुत्र, मित्रादि को मोल देकर वा स्नेह से मोदकादिक लाया हो, सो सब साधुओं के योग्य नहीं, इसमें बहुत से ईर्या पथ के दोष लगते हैं।

१३ उद्भिन्न दोष

जिसमें औषधि, घी, खांड, मोदकादि हों और जो मिट्टी, चपड़ी या अपने नाम के अक्षर की मोहर आदि से मुद्रित (बन्द) हों, ऐसे बर्तन आदि की मोहर वगैरह उखाड़ कर उनमे से साधुओं को भोजन देना सो उद्भिन्न दोष है। इसमें चींटी आदि के प्रवेश का दोष आता है।

१४ मालारोहण दोष

घर के ऊपर की मंजिल में रक्खी हुई पूआ, लड्डू घृत आदि वस्तुओं को काष्ठ की नसेनी आदि पर चढ़ कर, उन्हें लाकर साधु को देना सो मालारोहण दोष है। क्योंकि इसमें दाता के गिर जाने आदि की संभावना है।

१५ आच्छेद्य दोष

राजा, चोर आदि, गृहस्थों को भय दिखा कर यह कहें कि यदि तुम लोग साधु को आहार न दोगे तो हम तुम्हारी धन सम्पत्ति छीन लेंगे, या गाँव तथा देश से निकाल देंगे, इस प्रकार अपने बल आदि से भयभीत कर मुनि को आहार देना, सो आच्छेद्य दोष है, क्योंकि इसमें गृहस्थ कुटुम्बी भयभीत होते हैं।

१६ अनीशार्थ दोष

इसके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। उनमें जो घर का स्वामी बालक या वृद्ध होने के कारण किसी की संरक्षा में हो और उसे, दान देने की इच्छा होने पर किसी कारण मंत्री, पुरोहित आदि मना कर दें, फिर भी यदि वह दान देवे तो उसका दिया भोजन ईश्वर नामा अनीशार्थ दोपयुक्त है। तथा घर का स्वामी मौजूद न हो तब मन्त्री आदि व्यवहारी वा सेवक भोजन देवें तो उनका दिया वह भोजन अनीश्वर नामा अनीशार्थ दोपयुक्त है।

अनगार धर्मामृत में बताये हुए उद्गम के १६ दोषों के अर्थ में इससे कोई भेद नहीं है। केवल ५ दोषों में नाम भेद है। अध्यधि दोष के स्थान मे सार्विक प्रावर्तित के स्थान में, प्राभृतक, स्थापित की जगह न्यस्त, प्रामृष्य के स्थान में प्राभृत्य और अनीशार्थ के स्थान में निषिद्ध नाम दिया है।

इस प्रकार ये १६ उद्गम दोष दाता के आश्रित हैं, सो मुनिमार्ग का ज्ञाता गृहस्थ ऐसे दोष लगा कर संयमी को कभी भोजन नहीं देवे। अगर मुनि लोग भी जान लें तो ऐसे भोजन को दोपयुक्त समझ कर ग्रहण न करें।

धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिंछे ।
कोधी माणी मायी लोही य हवंति दस एदे ॥२६॥
पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य ।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ॥२७॥ (मूला० पिण्ड०)

आगे उत्पादक दोषों का वर्णन करते हैं, ये साधुके आश्रित हैं।

अर्थ—१ धात्री २ दूत ३ निमित्त ४ आजीवक ५ वनीपक ६ चिकित्सा ७ क्रोधी ८ मानी ९ मायी १० लोभी ११ पूर्वस्तुति १२ पश्चात् स्तुति १३ विद्या १४ मंत्र १५ चूर्णयोग १६ मूलकर्म, ये १६ उत्पादन दोष कहलाते हैं।

इनका पृथक् २ वर्णन इस प्रकार से है।

१ धात्री दोष

बालक का पालन-पोषण करने वाली धात्री (धाय) कहलाती है। उसके पाँच भेद हैं। १ मार्जन-धात्री २ मंडन-धात्री ३ क्रीड़न धात्री ४ चीर-धात्री ५ स्वपन-धात्री।

जो आहार इन ५ प्रकार की धात्रियों (धायों) के कर्म व क्रियाओं से उत्पन्न होता है उस आहार को ग्रहण करना धात्री दोष है। इन दोषों का खुलासा इस प्रकार है।

१ मार्जन-धात्री-दोष—साधु के पास बालकों सहित कोई गृहस्थ आवे तब साधु कहे इस बालक को इस प्रकार स्नान कराओ, इससे यह नीरोग-सुखी होगा, इत्यादि उपदेश से गृहस्थ रागी होकर दान देने के लिए प्रवृत्त हो और उस भोजन को साधु ग्रहण करे तो यह मार्जन (स्नान) धात्री नामा दोष है।

२ मंडन-धात्री-दोष—गृहस्थ बालकों को लेकर आवे तब साधु आप खुद बालकों के आभरण, केश, वस्त्र इत्यादि सवारने लगे, और उपदेश दे कि इसको इस प्रकार भूषित किया करो, तब अपने बालक में साधु को अनुरागी जान कर गृहस्थ भक्त होकर साधु को भोजन देने को प्रवृत्त हो। ऐसे आहार को लेने वाले साधु के मंडन धात्री नाम दोष लगता है।

३ क्रीड-धात्री-दोष—जब गृहस्थ बालकों को लेकर आवे तब साधु उन बालकों से क्रीड़ा करने लगे या उनको क्रीड़ा कराने के उपायों का उपदेश करे। और इससे साधु का बहुत प्रेम बालक पर जान कर गृहस्थ साधु को आहार देने में तत्पर हो उस आहार को लेने वाले साधु के क्रीड़न धात्री दोष होता है।

४ चीर-धात्री-दोष—गृहस्थों से कहे 'बालक को इस प्रकार दूध पिलावो तब बालक नीरोग और बलवान रहेगा। अथवा इस प्रयोग से बालक की माता के बहुत दूध उतरेगा।' इस प्रकार उपदेश करने पर उस बालक के माता पिता प्रसन्न होकर यदि साधु को आहार देने में प्रवृत्त हों तो उस बालक के घर का आहार ग्रहण करने वाला साधु चीर धात्री दोष का भागी है।

५ स्वपन-धात्री-दोष—बालक को साधु आप शयन करावे अथवा उसके माता पिता को उपदेश देवे कि इस प्रकार शयन कराओ। इस बात से अनुरागी होकर गृहस्थ साधु को भोजन दे तो उसको ग्रहण करने वाले साधु को स्वपन धात्री नामक दोष लगता है।

(२) दूत दोष

कोई साधु जल मार्ग से या स्थल मार्ग से अन्य ग्राम को जावे या अन्य देश को जावे तब कोई गृहस्थ कहे भो भट्टारक! हमारा यह सन्देश हमारे सम्बन्धी को श्रवण करा देना। उस सन्देश को ले जाकर दाता को सुनाने पर जो साधु उस गृहस्थ से दान ले तो उसे दूत नामा दोष लगता है,

३ निमित्त दोष

(१) तिल, मसा इत्यादि व्यञ्जनों (चिह्नों) को देख कर शुभाशुभ जानना सो व्यञ्जन निमित्त ज्ञान है (२) मस्तक, ग्रीवा, हस्त, पादादिक को देखकर पुरुषों के शुभाशुभ को जानना सो अंग नामा निमित्त ज्ञान है। (३) मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा अचेतन के अक्षरात्मक वा अनक्षरात्मक शब्दों को सुन कर त्रिकाल सबधी शुभाशुभ को जानना यह स्वर निमित्त ज्ञान है। (४) भूमि की रूक्षता, स्निग्धता (चिकनाई) आदि देखकर त्रिकाल संबंधी शुभाशुभ जानना यह भौम निमित्त ज्ञान है (५) शरीर पर लगे हुए खड्ग आदि के घाव को देख कर अथवा वस्त्रों को मूपिकादि से छिदा हुआ देखकर त्रिकाल संबन्धी शुभाशुभ जानना यह छिन्न नामा निमित्त ज्ञान है। (६) आकाश में सूर्य आदि के ग्रहण से, ग्रहों के उदय अस्तादि से, तारा टूटने आदि से प्रजा के शुभाशुभ फल को जानना अन्तरिक्ष निमित्त ज्ञान है। (७) शरीर में स्वस्तिक, चमर, दर्पण आदि को देखकर त्रिकाल संबंधी शुभाशुभ को जानना सो लक्षणनामा निमित्त ज्ञान है। स्वप्न में हाथी, विमान, भैंसे पर बैठना आदि देख कर त्रिकाल का शुभाशुभ जानना सो स्वप्न नामा निमित्त ज्ञान है। इसी प्रकार गर्जन, दिग्दाह आदि निमित्तों से भी ज्ञान होता है। इन निमित्त ज्ञानों से लोगों को चमत्कार दिखाकर भोजन लेना सो निमित्त दोष है।

४ अजीवक दोष

माता पक्ष की सन्तति अथवा माता की शुद्धता जाति कहलाती है, तथा पिता पक्ष की सन्तति अथवा पिता की शुद्धता कुल। जो जाति तथा कुल के संबंध से अपनी शुद्धता दिखाकर आहार ले अथवा शिल्प कर्म अर्थात् चित्रकला आदि में अपने हाथ की चतुरता, तपश्चरण की अधिकता, अपनी महत्ता आदि प्रकट करके लोगों से आहार ग्रहण करे सो आजीवक दोष है। क्योंकि इसमें आजीविका पूर्ण करने के लिए अपनी महानता सूचक वचन गृहस्थों को कहकर आहार लिया जाता है। इसमें वीर्य की हीनता व दीनता आदि दोष देखे जाते हैं इसलिए यह आजीवक नामा उत्पादन दोष है।

५ वनीपक दोष

कोई गृहस्थ प्रश्न करे उसका साधु सिद्धान्त के प्रतिकूल गृहस्थ के अभिप्राय के अनुसार उत्तर दे यह वनीपक दोष है। जैसे—कोई पूछे—भगवन्! कुत्ते को, कृपण—कोढ़ी, रोगी आदि दुःखी जीवों को, अतिथि—मध्याह्न में अपने घर आये भिक्षुक को, मांस भक्षी ब्राह्मण को, दीक्षाधारण कर आजीवका करने वाले पाखडी भैरवी आदि साधुओं को, श्रवण—आजीवक साधु या छात्रो को तथा काकादि हिंसक पक्षियों को दान देने से पाप होता है या पुण्य ? तब दातार के अभिप्रायानुसार कहे कि पुण्य होता है। इस प्रकार दाता के अनुकूल कहकर आहार लेना सो वनीपक दोष है। क्योंकि ऐसा करने में दीनता आदि दोष स्पष्ट हैं।

६ चिकित्सा दोष

चिकित्सा शास्त्र आठ प्रकार का होता है। (१) एक दिन से लेकर एक वर्ष तक के बालक की चिकित्सा के उपाय कौमार-चिकित्सा है। (२) ज्वरादि रोगों का निराकरण, अथवा कंठ उदर के शोधन की विया तनु चिकित्सा है। (३) शरीर पर वृद्धावस्था में, श्वेत केश आदि होते हैं उनके निराकरण का उपाय, बहुत काल तक जीवित रहने का उपाय, होने वाली शरीर की झुर्रियों (सलवट) को रोकने का उपाय रसायन चिकित्सा है।

(४) स्थावर जंगम और कृत्रिम विष का इलाज विष-चिकित्सा है। (५) भूत पिशाचादि से पीड़ित की चिकित्सा भूतापनयन विद्या है। (६) भयकर फोडे फुंसी आदि शरीर में हों उनके सोधने का कारण क्षार तंत्र नामा वैद्यक है। (७) नेत्रों के पलकों को उघाड़ कर सलाइयों से इलाज करने की विद्या शालाकिक वैद्यक है (८) बाण आदि शस्त्रों की शरीर मे गड़ी शल्य, अथवा शरीर की हड्डी टूट कर शरीर मे लगी हुई उसकी शल्य (नोक) आदि का इलाज करना सो शल्य चिकित्सा है। इन आठ प्रकार की चिकित्साओं के द्वारा उपकार करके आहार करना सो साधु के लिये आठ प्रकार चिकित्सा नामा उत्पादन दोष है। क्योंकि इसमें सावद्यादिक दोष देखे जाते हैं।

७।८।९।१० क्रोध, मान, माया, लोभ दोष

कोई साधु गृहस्थों से क्रोध कर अपने लिए भोजन उपजावे तो क्रोधोत्पादन दोष होता है। मान (गर्व) करके भोजन उपजावे तो वह मानोत्पादन दोष होता है। कुटिल स्वभाव (मायाचार) कर भोजन उपजावे तो मायोत्पादन दोष होता है तथा किसी प्रकार का लोभ (आकांक्षा) दिखाकर भोजन पैदा करे वह लोभोत्पादन दोष है।

११ पूर्वस्तुति दोष

कोई साधु आहार ग्रहण के पहले दाता (श्रावक) की स्तुति करे कि तुम दानियों में श्रेष्ठ हो, प्रधान हो, यशोधर हो। पहले तुम महादानी थे, अब दान को क्यों भूल गये ? इस प्रकार पहले स्तुति करके आहार उत्पादन करे—यह सर्व पूर्व-स्तुति दोष है। यह नग्न मुनि के कर्तव्य में दोष दिखाई देता है।

१२ पश्चात् स्तुति दोष

दान ग्रहण करने के पश्चात् दातार की स्तुति करना यह पश्चात् स्तुति नामा दोष है इससे कृपणता प्रकट होती है।

१३ विद्या दोष

दाता को आकाश गामिनी, रूप-परिवर्तनी, शस्त्र-स्तम्भनी आदि बहुत प्रकार की विद्या देने का लोभ दिखाकर भोजनोत्पान करना विद्या दोष कहलाता है।

१४ मंत्र दोष

पढ़ने मात्र से ही सिद्ध होने वाले सर्प, बिच्छू आदि के मंत्र को पठित सिद्ध कहते है। ऐसे मंत्र के देने की आशा दिखाकर श्रावक से आहार ग्रहण करना मंत्र दोष है। अथवा आहार दाताओं के लिये विद्या और मंत्र से देवता को बुला कर साधयितव्य सिद्ध करना विद्या दोष व मंत्र दोष है।

१५ चूर्ण दोष

नेत्रों मे निर्मलता कारक अंजन, शरीर को शोभित करने वाले तिलक, पत्र, वल्ली आदि का निमित्तभूत चूर्ण, तथा शरीर की शोभा का

कारण, जिससे शरीर की दीप्त्यादिक होवे ऐसे चूर्ण आदि की विधि बताकर भिक्षा का उत्पादन करना चूर्ण नामा दोष है।

१६ मूलकर्म दोष

किसी पुरुष के स्त्री, पुत्र, राजा या राजमंत्री जो उससे विपरीत हो रहे हों, उनका आपस में मेल करा कर अर्थात् जो वश में न हों उनके वशीकरण का, जो स्त्री-पुरुषादि वियुक्त हों उनके संयोग का उपायभूत मंत्र-तंत्रादि गृहस्थों को बताकर अपने लिए भोजन उत्पादन करना यह मूल कर्म दोष है।

उक्त दोष रहते हुए आहार ग्रहण करने से साधुपन नष्ट हो जाता है। अतः उक्त सब दोष परित्याज्य हैं।

अब भोजन के आश्रित दोषों को दिखाते हैं—

संकिदमक्खिदपिहिदं संववहरणदायगुम्मिसे ।
अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसाइं दस एदे ॥ (मूल० पि० ४३)

अर्थ—१ शंकित, २ मृक्षित, ३ निक्षिप्त, ४ पिहित, ५ संव्यवहरण, ६ दायक, ७ उन्मिश्र, ८ अपरिणत, ९ लिप्त, १० त्यक्त। इस प्रकार ये भोजनाश्रित १० दोष सर्वथा त्यागने योग्य हैं। अब इनका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं।

१ शंकित दोष

(१) भात, रोटी, दाल, खिचड़ी इत्यादि अशन हैं। (२) दुग्ध, दही, शर्बत, मट्ठा, ठंडाई आदि पान हैं। (३) लाडू, फेणी, पेड़ा, कलाकंद आदि खाद्य हैं। (४) इलायची, सुपारी, लवंग, तांबूल आदि स्वाद्य हैं। यदि कभी इन चार प्रकार के आहार के सम्बन्ध मे ऐसी शंका उत्पन्न हो जावे कि यह आहार जिनागम में लेने योग्य बताया है वा नहीं ? अधःकर्म से उत्पन्न हुआ है या नहीं ? तथा ऐसी शका की अवस्था में ही उसको ग्रहण कर ले तो उसके शंकितनामा अशन दोष होता है।

२ मृक्षित दोष

तैल, घृत आदि से लिप्त हाथ, कडछी या अन्य पात्र से दिया गया भोजन मृक्षित दोपयुक्त है। क्योंकि चिकने पात्र में लग कर छोटे-छोटे सूक्ष्म जीव नहीं बचते, मर जाते हैं।

३ निक्षिप्त दोष

जो भोजन सचित पृथ्वी, जल, अग्नि या वनस्पति के पत्र पर रखा हो, बीज सहित हो अथवा त्रस जीवों के ऊपर रखा हो, वह निक्षिप्त दोपयुक्त है।

४ पिहित दोष

जो भोजन सचित्त पदार्थों से ढका हो, अथवा भारी पदार्थ जैसे अचित्त शिला काष्ठ, पाषाण, धातु मिट्टी के भारी पात्र से ढका रक्खा हो, उसको उघाड़ कर देना सो पिहित दोष है।

५ संव्यवहरण दोष

भोजन देने वाला अपने लटकते हुए वस्त्र को वा भोजन पात्र वा व भोजन को यत्नाचार रहित खींच लेवे, अथवा चौकीपाटा, वर्तन आदि को जमीन के ऊपर रगड़ कर ईर्यापथ शुद्धि रहित खींच लेवे, ऐसे स्थान पर भोजन-पान लेना संव्यवहरण दोष है।

६ दायक दोष

सूति—जो स्त्री बालक का प्रसाधन करती हो❀। **सुंडी**—मद्य-पान-लम्पट। **रोगी**। **मृतक**—मुर्दा को श्मसान में क्षेपण करके आने वाले या मृतक के सूतक सहित। **नपुंसक**। **पिशाच**—वायु आदि के उपद्रव सहित। **नग्न**—वस्त्र रहित वा एक वस्त्र वाला गृहस्थ। **उच्चार**—मल-मूत्र मोचन करके आया हुआ। **पतित**—मूर्च्छा आ जाने से पड़ा हुआ। **वांत**—वमन करके आया हुआ। **रुधिर**—जिसके शरीर से रुधिर बह रहा हो। **वेश्या**—दासी। **श्रमणिका**—आर्यिका अथवा रक्तपटिका आदि पाँच श्रमणिका। **अंगमर्दिका**—अङ्ग मर्दन करने वाली या कराने वाली। **अति बाला**—आठ वर्ष से कम उम्र वाली, अत्यन्त भोली। **अतिवृद्धा**—बहुत बुड्ढी, जिसके हाथ, पैर आदि में शिथिलता आ गई हो। **ग्रासयन्ती**—जिसके मुँह में ग्रास हो, जूंठे मुँह वाली। **गर्भिणी**—गर्भवती, जिसके पेट में पाँच महीने से अधिक का बालक हो। **अंधी**। **अन्तरिता**—भीत की आड़ में वा परदे में रह कर आहार देने वाली। **आसीना**—बैठ कर आहार देने वाली। **उच्चस्था**—अपने से ऊँचे स्थान पर बैठ कर आहार देने वाली। **नीचस्था**—अपने से नीचे स्थान पर खड़ी होकर आहार देने वाली। **पूयण**—अग्नि सुलगाती हुई। **प्रज्वालन**—अग्नि को तेज करती हुई या बढ़ाती हुई। **सारण**—अग्नि में काष्ठ डालती हुई या ऊँचा करती हुई। **प्रच्छादन**—अग्नि को भस्मादि से ढकने वाली। **विध्यापन**—अग्नि को जल आदि से बुझा देने वाली। **घट्टन**—अग्नि के ऊपर कुम्भ्यादि चलाने वाली। **अग्निकार्य**—तथा अग्नि से अन्य कार्य करना। **निश्च्याव**—लकड़ी वगैरह को पटक देना। **लेपन**—गोबर अथवा मिट्टी से भीत आदि लीपते छोड़ कर आना। **मार्जन**—स्नान करते आकर आहार देना। दूध पिलाते हुए बालक को दूध पिलाना छोड़ कर आहार देना +। ऐसी अवस्था वालों से साधु को आहार नहीं लेना चाहिये। अगर लेवे तो दायक दोष लगता है।

७ उन्मिश्र दोष

जो भोजन सचित्त पृथ्वी; हरित पत्र, पुष्प, बीज, फलादि से मिल रहा हो, वह आहार उन्मिश्र दोषयुक्त है।

❀ यहाँ सूति शब्द प्रसूति वाली स्त्री के हाथ से भोजन न लेने के अभिप्राय को सूचित करता है। प्रसूति का असर १॥ मास रहता है। अतः ऐसी स्त्री से प्रसूति के ४५ दिन आहार नहीं लेना चाहिये।

+ यह बातें स्त्री या पुरुष दोनों में ही यथासम्भव समझ लेनी चाहिएँ।

८ अपरिणत दोष

तिल, चांवल, चना अथवा तुष के धोवन का जल, गर्म करके ठण्डा किया हुआ जल, तथा हरड़ आदि का चूर्ण जिसमें डाला गया हो ऐसा जल, क्योंकि ऐसे जल का रूप, रस, गन्ध, वर्ण बदल जाता है वही ग्रहण करने योग्य कहा गया है। यदि उक्त जल के रूप, रसादिक पूरी तरह नहीं बदले हों तो वह अपरिणत है, उसे ग्रहण करने योग्य नहीं कहा है, इसलिये उसे नहीं लेना चाहिये।

९ लिप्त दोष

गेरू, हरताल, खड़ी, पांडु, मैनसिल, मिट्टी, कचा चूना, चावल, पत्र, शाक, व अप्रासुक जल आदि से लिप्त दाता के हाथ व भोजन के बर्तनों से भोजन देने पर लिप्त दोष होता है।

१० परित्यजन दोष

हाथ कांपते हों, छाछ, दूध, घृत वगैरह से लिप्त हों या झरते हों अथवा छिद्र सहित हाथ की अंजुली में से ज्यादा भोजन नीचे गिरता हो, थोड़ा भोजन ग्रहण में आता हो, तो वह परित्यजन दोष है।

इस प्रकार ये दश अशन दोष हिंसा के निमित्त होने से सावद्यजनक हैं, इसलिये इनसे अवश्य बचना चाहिये।

आगे चार प्रचूर्ण दोष कहते हैं :—

संजोयणा य दोसो जो संजोएदि भत्तपाणं तु।
अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो ॥५७॥
तं होदि सयंगालं, जं आहारेदि मुच्छिदो संतो।
तं पुण होदि सधूमं, जं आहारेदि णिंदिंदो ॥५८॥ (मूला० पिण्ड०)

अर्थ—संयोजन, प्रमाण, अङ्गारक, धूम ये चार दोष मूल से ही साधुता को नष्ट करने वाले हैं। अब इनका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं।

१ संयोजना दोष

शीतल भोजन में उष्ण जल मिलाना, उष्ण भोजन में शीतल जल मिलाना, शीत-उष्ण जल को परस्पर में मिलाना अथवा अन्य भी परस्पर विरुद्ध मिश्रण कार्य करना, यह संयोजना नामा दोष है।

२ प्रमाण (मात्रा) दोष

साधु को आधा उदर भोजन व्यञ्जनादि से और तीसरा भाग जल से भरना चाहिये तथा चौथा भाग खाली रखना चाहिये। इस प्रमाण आहार लेने से ही ध्यान, स्वाध्यायादि कार्य सुगमता से हो सकते हैं। इसके विरुद्ध अधिक भोजन करने से प्रमाद बढ़ जाता है और धर्म साधन

में बाधा होती है। अतः मात्रा से अधिक भोजन-पान करना प्रमाण (मात्रा) दोष है। भोजन अति स्वादिष्ट हो तो प्रमाण से ज्यादा ग्रहण कर लेना ही गृद्धता है और स्वादिष्ट न हो तब भूखा रह जाना क्रोध है। अतः दोनों प्रकार की क्रिया प्रमाण दोष है।

३ अङ्गारक दोष

भोजन स्वादिष्ट होने से अति लंपट होकर आसक्ति (गृद्धि) से खाना अङ्गारक दोष है।

४ धूम दोष

मन को बिगाड़ते हुए ग्लानि के साथ यह भोजन सुन्दर नहीं है, यह अनिष्ट है, ऐसी निन्दा करते हुए क्लेशयुक्त परिणामों से भोजन करना धूम दोष है।

यहाँ तक दिगम्बर साधुओं के टालने योग्य ४६ दोष कहे। अब अर्हंत के परमागम में छह कारण भोजन लेने के तथा छह कारण भोजन छोड़ने के हैं, उन्हें बताते हैं।

भोजन लेने के छह कारण

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए ।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥६०॥ (मूला० पिण्ड०)

अर्थ—क्षुधा निवारण, आवश्यक-क्रिया पालन, वैयाव्रत करना, तेरह प्रकार चारित्र का आचरण, प्राणों की रक्षा, दश प्रकार धर्म का चिन्तन, इन छह हेतुओं से परमागम में साधुओं को भोजन लेना बताया है।

१ क्षुधा निवारण—मैं क्षुधा वेदना कर पीड़ित चारित्र पालने में असमर्थ हूँ, इस वेदना से चारित्र-भ्रष्ट हो जाऊँगा अतः भोजन लेना उचित है।

२ आवश्यक-क्रिया पालन—आहार बिना षडावश्यक रूप क्रिया पालने का सामर्थ्य नहीं हो सकता इसलिये भोजन करना योग्य है।

३ वैयावृत्य करना—आहार के बिना योगियों का वैयावृत्य (सेवा टहल) नहीं हो सकता, अतः इस वैयावृत्य की सिद्धि के लिये आहार लेना योग्य है। संघ का कोई साधु रोग से पीड़ित हो अथवा समाधिमरण करता हो उसकी रात्रि-दिन सेवा करना, उपदेश देना, उसे उठाना-बैठाना, पैर दबाना इत्यादि क्रिया आहार किये बिना नहीं बन सकती, इसलिए भोजन करना योग्य है। यहाँ स्ववैयावृत्य तथा परवैयावृत्य दोनों का ही ग्रहण किया गया है।

४ त्रयोदश विध चारित्र आचरण—क्षुधा-वेदना से पीड़ित मुनि षट्कायिक जीवों की रक्षा करने एवं समिति आदि के पालन करने में असमर्थ हैं। इसलिए संयम की सिद्धि के अर्थ भोजन करना योग्य है।

५ प्राण-रक्षा—आहार के बिना इन द्रव्य प्राण और भाव प्राणों की रक्षा नहीं हो सकती और प्राण रक्षा के बिना धर्म-साधन नहीं होता। धर्म-साधन के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये प्राण-रक्षार्थ भोजन लेना उचित है।

६ दश-विध-धर्म का चिन्तन—आहार किये बिना. दशलक्षण रूप धर्म का चिन्तन नहीं हो सकता, अतः धर्म की रक्षार्थ शरीर को भोजन देना योग्य है। इन छह कारणों से भोजन करता हुआ साधु कर्म बंध से बचता है तथा पुरातन-कर्मों की निर्जरा भी करता है।

भोजन-त्याग करने के छह कारण

आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वेच्छेदो ॥६१॥ (मूला० पिण्ड)

अर्थ—१ अकस्मात् व्याधि होना, २ मनुष्य या देवकृत उपसर्ग होना, ३ ब्रह्मचर्य की निर्मलता, ४ प्राणियों की दया, ५ अनशनादि तप, ६ संन्यास की साधना इन छह कारणों से भोजन त्याग किया जाता है। इनका खुलाशा इस प्रकार है—

१ अकस्मात् व्याधि—शरीर में एकदम प्राणान्तक व्याधि पैदा हो जाने पर क्षुधा की वेदना रहते हुए भी भोजन का त्याग कर देना उचित है।

२ मनुष्य देवादि कृत उपसर्ग—दुष्ट मनुष्य, देव, तिर्यंच अथवा अचेतन कृत, दीक्षा नाशक उपसर्ग होने पर भोजन छोड़ देना चाहिये।

३ ब्रह्मचर्य की निर्मलता—इन्द्रियों तथा काय की उत्कटता रोकने से ब्रह्मचर्य की निर्मलता होती है, इसलिए भोजन का छोड़ना उचित है क्योंकि भोजन से इन्द्रियों और शरीर में तीव्रता आती है।

४ प्राणियों की दया पालना—आज रास्ते में जीवों का संचार बहुत है, अतः भोजन के लिए जाऊँगा तो हिंसा अधिक होगी, ऐसा जान कर संयमी जीव दया पालन के हेतु भोजन का परित्याग कर देते हैं।

५ अनशन तप के लिए—आज उपवास करना है इसलिये आहार नहीं लेते हैं।

६ सन्यास की साधना निमित्त—जब शरीर जरा से जर्जरित हो जाय अथवा कोई असाध्य रोग उत्पन्न हो जाने से इन्द्रियाँ बेकार हो जाँय, उस समय साधु विचारते हैं कि यह जरावस्था मेरे साधुपन को हानि पहुँचा रही है और रोग असाध्य हो गया है, इन्द्रियाँ भी असमर्थ हो गई हैं इसीलिए स्वाध्यायादि नित्यकर्म नहीं हो पाते। मेरा तो नाश कभी होगा नहीं और शरीर का नाश तो यों भी अवश्यम्भावी है। इसलिये अब संन्यास मरण के लिये आहार का त्याग करना उचित है, ऐसा सोच कर आहार का त्याग किया जाता है। इन छह कारणों से परमागम में भोजन का त्याग उचित बताया है, इन कारणों के बिना जैन यति आहार का त्याग नहीं करते।

नीचे लिखे उद्देश्यों से मुनि कभी भोजन नहीं लेते :—

१ शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए। इसकी आवश्यकता केवल लौकिक मनुष्य को होती है।

२ आयु की वृद्धि के लिये।

३ भोजन का स्वाद लेने के लिये, जिह्वा इंद्रिय की तृप्ति के लिए अथवा शरीर की दीप्ति आदि के लिये साधु कदापि भोजन नहीं करते। किन्तु ज्ञानाभ्यास और ध्यान तथा संयम की सिद्धि के लिये ही साधु भोजन करते हैं।

जो भोजन उद्गम, उत्पादन, संयोजना, प्रमाण, धूम, अंगारक आदि दूषणों से रहित हो; मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना की शुद्धि युक्त तथा नवधा भक्ति वाले सप्त गुण सहित दाता के द्वारा दिया गया हो, वही भोजन ग्रहण करने योग्य है। अन्य नहीं।

उक्त दोषों के अतिरिक्त एक अधःकर्म नामा महादोष है जिसके रहते मुनिव्रत कभी नहीं ठहर सकता। उसका स्वरूप पहले संक्षेप से दिखा आये हैं। उसका यहाँ पर विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाता है। इस अधःकर्म में ये दोष होते हैं :—

१ जिसमें पंच सूना-कर्म (चक्की, चूल्हा, बुहारी, ओखली और परिंडा) से छह काय के जीवों का घात होता है, वह आरंभ नामा अधःकर्म है। क्योंकि जीव दया मुख्य धर्म है और पंच सूना कर्म में उसका अभाव है, अतः जहाँ जीव दया नहीं वहाँ मुनि धर्म कैसे रह सकता है।

२ छह कायिक जीवों को उपद्रव होना सो उपद्रवण दोष है।

३ छह कायिक जीवों का छेदन भेदन करना विद्रावण दोष है।

४ छह कायिक जीवों को संताप होना परितापन दोष है।

इस प्रकार छह कायिक जीवों के १ आरंभ, २ उपद्रवण, ३ विद्रावण, ४ परितापन करके जो आहार-स्वयं किया हो, अन्य से करवाया हो अथवा अन्य द्वारा बनाये गये ऐसे आहार की अनुमोदना की हो तो इस प्रकार सम्पन्न हुआ आहार अधःकर्म युक्त है सो संयमी को दूर से ही त्यागना योग्य है। ऐसे अधःकर्म दोष से दूषित आहार लेने वाला साधु गृहस्थ से भी अधम है, क्योंकि मुनिभेष धारण करके भी जो अपने हाथ से भोजन बनावेगा, अथवा दूसरे से कहकर बनवावेगा वा अन्य द्वारा बनाये गये की मन, वचन, काय से अनुमोदना करेगा, वह गृहस्थ ही माना गया है। उक्त रीति से आहार का सपादन करने वाला जैन साधु नहीं हो सकता और साधु भेष धारण करके जो अधःकर्म-दूषित भोजन करे वह पापी ही नहीं, महा पापी है।

अब ऊपर लिखे दोषों से रहित शुद्ध भोजन भी जिन दोषों से अयोग्य हो जाता है, उन चौदह मल दोषों को बताते हैं।

णहरोमजंतुअट्ठीकणकुण्डयपूयिचम्मरुहिरमंसाणि ।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउदसा होंति ॥६५॥ (मूला० पि०)

अर्थ—१ नख, २ केश, ३ जन्तु का निःप्राण शरीर, ४ हड्डी, ५ कण (जौ गेहूं का ऊपर का अवयव), ६ कुंड (शालि-चाँवल आदि धान्य के भीतर का भाग), ७ पूय (राध), ८ गीला चर्म, ९ रुधिर, १० मांस, ११ बीज (जौ गेहूं आदि के उगने योग्य बीज), १२ फल (आम्र, नारियल आदि), १३ कंद (बेल के नीचे पृथ्वी में उगने का कारण), १४ मूल (वृक्षादि की जड़) इस प्रकार यह चौदह दोष हैं, इनमें कई तो महामल हैं, और कई अल्पमल हैं, कोई महादोष हैं, कोई अल्पदोष हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है।

१ मलों में महामल—रुधिर (चार अंगुल प्रमाण), मांस, अस्थि (हड्डी), चमड़ा (कचा), पूय (राध) यह पाँच पदार्थ भोजन करते समय भोजन में तथा परोसने वाले के शरीर में निकलते हुए दिखाई दें तो सर्व प्रकार का आहार छोड़ देना चाहिये तथा और भी जो प्रायश्चित गुरू देवें सो लेना चाहिये।

२ मलों में अल्पमल—द्विन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चोइन्द्रिय जीव का शरीर या केश भोजन में निकले तो भोजन का त्याग करना उचित है। तथा यदि नख निकले तो भोजन के त्याग के साथ अल्प प्रायश्चित भी लेना चाहिये।

महादोष—सिद्ध भक्ति करने के बाद भोजन के प्रारंभ में ही रुधिर, पीव आदि का दर्शन हो जावे तो उस दिन भोजन नहीं करना चाहिये।

अल्पदोष—भोजन में कण, कुड, बीज, मूल, फल आदि होवें तो उनको हटा कर भोजन कर लेना चाहिये, यदि भोजन में से ये पदार्थ नहीं निकल सकें तो भोजन छोड़ देना उचित है। हो सके तो इन वस्तुओं को हाथ से अलग कर देना चाहिए। इसका विशेष वर्णन मूलाचार की ६५ वीं गाथा (पिंडशुद्धि अधिकार) में और भगवती आराधना के पिण्ड शुद्धि अधिकार में है इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार वर्णन किया गया है।

जो भोजन जीव रहित हो वह प्रासुक है अतएव द्रव्य अपेक्षा से शुद्ध है। जो भोजन दो इन्द्रिय आदि जीवों के सजीव या निर्जीव कलेवर सहित हो वह दूर से ही त्याज्य है। क्योंकि वह द्रव्य अपेक्षा से अशुद्ध है। जो भोजन प्रासुक भी है और शुद्ध भी है, किन्तु केवल अपने लिये संकल्प करके बनाया है तो, वह द्रव्य से शुद्ध होता हुआ भी अशुद्ध माना गया है। जो शुद्ध भोजन अपने अथवा अपने कुटुम्बियों के लिये बनाया गया है, वह ही साधुओं के दान योग्य माना गया है। मुनि के निमित्त बनाया हुआ भोजन शुद्ध होने पर भी मुनि के ग्रहण-योग्य नहीं होता है। ऐसा भोजन गृहस्थ दिगम्बर जैन मुनियों को कदापि न दें।

प्रातः काल तीन घड़ी दिन चढ़े पीछे और सायंकाल तीन घड़ी दिन बाकी रहे उसके पहले संयमी (मुनि) के भोजन का समय है। तीन मुहूर्त (छह घड़ी) जघन्य, दो मुहूर्त (चार घड़ी) मध्यम और एक मुहूर्त (दो घड़ी) उत्तम भोजन का काल है। इसका आशय यह है कि साधु प्रातःकाल सूर्योदय के ३ घड़ी पश्चात् तथा सायंकाल में सूर्यास्त से ३ घड़ी पहले किसी भी समय अपनी तथा गृहस्थों की सुविधा देख कर आहार के लिये निकलें। आहार के लिये दाता के घर में प्रवेश कर जब सिद्ध भक्ति कर चुके उसके बाद मुनि के भोजन का काल प्रारंभ होता है। यदि तीन मुहूर्त भोजन में लगे तो जघन्य काल, दो मुहूर्त लगे तो मध्यम काल और १ मुहूर्त समय लगे तो उत्कृष्ट काल माना गया है। योग्यता न मिलने पर साधु घूमता रहे वह काल भोजन काल में नहीं गिना गया है।

जिस देश में संयमी मौजूद हो उस देश के भोजन का समय विचार कर गोचरी को जावे। गोचरी के लिए विहार करने के समय समस्त अंग को पिच्छी से सोध कर नीचे लिखी विधि के अनुसार गमन करे।

"पिच्छं कमंडलुं वामहस्ते स्कंधे तु दक्षिणम् ।
हस्तं निधाय संदृष्ट्या, स व्रजेच्छावकालयम् ॥"

अर्थ—पिच्छी और कमण्डलु को बायें हाथ में रक्खे, और दाहिने हाथ को कंधे पर रख लेवे, फिर धीरे धीरे ईर्यापथ शुद्धि से श्रावक के घर में तहाँ तक जावे, जहाँ तक जाने के लिए किसी को किसी प्रकार की रोक टोक नहीं हो तथा जहाँ द्वार पालादिक भी नहीं रोके। मुनि गृहस्थों के घर के आंगण में बारह आने भाग प्रमाण जावे। इस प्रकार भी आगम का प्रमाण है। ऐसा न विचारे कि दातार कौन मिलेगा ? मुझे कैसा आहार देगा ? शीतल भोजनादि मिले तो बड़ा अच्छा हो क्योंकि हमारे उपवासादि की वेदना बढ़ रही है। अथवा उष्ण भोजनादि मिले तो अच्छा, क्योंकि हम शीत से पीडित हैं। अथवा मिष्ट, चरपरा, खट्टा, सच्चिक्कन, दूध, दही, घृत, पकान्न आदि रूप आहार मिले तो श्रेष्ठ, इत्यादि प्रकार से आहार की अभिलाषा वा संकल्प दिगम्बर मुनि कभी नहीं करते। मार्ग में धर्म-भावना वा आत्म-भावना सहित गमन करते हैं। आचारांग की आज्ञा प्रमाण देशकाल की प्रवृत्ति के ज्ञाता, मान अपमान में, लाभ अलाभ में समान रूप वृत्ति वाले जैन साधु धनवान अथवा निर्धन के घर का संकल्प नहीं करते। चन्द्रमा की चांदनी के समान सबके ऊपर सम भाव रखते हैं। अगर भूल से अभोज्य घर मे प्रवेश हो जावे, तो उपवास करना चाहिए।

अब यह बतलाते हैं कि आहार के लिए निकले हुए मुनि किस तरह प्रवृत्ति करें:—

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥४७॥ (मूला० अनगा०)

अर्थ—मुनि लोग भिक्षा के लिये मौन पूर्वक परिचित या अपरिचित का बिना विचार किये गृहस्थों के घरों की पंक्ति से जाते हैं। वे महा धीर-वीर पुरुषोत्तम नहीं विचारते कि यह नीच कुल का घर है, इसमें नहीं जावें, यह उच्च कुल का घर है, यहाँ ही जावें। जो कदाचित् कर्म के निमित्त से उस दिन नीच कुल के घर में प्रवेश हो जावे तो तत्काल भोजन का प्रत्याख्यान कर उपवास ग्रहण कर भिक्षा छोड़ देते हैं, परन्तु अपनी वीर-वृत्ति में कलक नहीं लगाते। यही शूरवीरों का धर्म है। वे साधु जगत्बांधव प्रात. स्मरणीय संसार भर के वंदनीय हैं। वे भोजन के लिये गृहस्थों के घर के आंगण तक ही जाते हैं, वहाँ खड़े नहीं रहते, आशीर्वाद आदि भी मुख से नहीं कहते, हाथ का इशारा भी न करते, न उदर की कृशता दिखाते, न मुख को विवर्ण व उदास करते, हुंकारादि से संकेत भी नहीं करते। दाता पड़गाहे तो खड़े रहेंगे, नहीं पड़गाहे तो अन्य घर चले जावेंगे। किसी से रोप-तोप करने का कुछ काम नहीं। आत्म-भावना मे उपयोग लगा कर, जो पूर्ण विधियुक्त आहार हो उसी को क्षुधा की शान्ति के लिये ग्रहण करते हैं, सरस व नीरस का कुछ भी विचार नहीं करते।

आगम में मुनियों की पांच प्रकार की चर्या इस तरह बतलाई है।

"भ्रामरी गर्त्तपूराचोदराग्निप्रशमस्तथा ।
अक्षमृक्षणी गोचरी चैताः साध्वाहारवृत्तयः ॥"

अर्थ—(१) भ्रामरी, (२) गर्त्तपूरणी, (३) उदराग्नि-प्रशमन, (४) अक्षमृक्षणी, (५) और गोचरी । इस तरह साधुओं की आहार-वृत्ति के पाँच नाम निर्देश हैं । इनका खुलासा यह है :—

(१) भ्रामरी—जैसे भ्रमर पुष्पों से रस खींच लेता है, उसकी गन्ध ग्रहण करता है, किन्तु पुष्प को किसी प्रकार की बाधा नहीं देता, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थ को किसी प्रकार की भी बाधा नहीं पहुँचाता हुआ भोजन लेता है । इसे भ्रामरी वृत्ति कहते हैं ।

(२) गर्तपूरणी—जैसे किसी जगह खाड़ा हो जावे, तो उसे धूल, मिट्टी आदि से भर देते हैं । उसी प्रकार साधु उदर रूपी खड्डे को रस, नीरस का विचार किये बिना शुद्ध सामान्य भोजन से भर लेते हैं । यह गर्तपूरणी वृत्ति है ।

(३) उदराग्नि प्रशमन—जैसे किसी के माल से भरे भंडार में आग लग जावे तब गृहस्थ जन जैसे-तैसे अग्नि को बुझा कर माल की रक्षा करते-कराते हैं । वैसे ही गुणरूप रत्नों से भरा हुआ यह साधु शरीर रूप भंडार है, इसमें क्षुधा रूप अग्नि प्रज्वलित हुई है, उसे शान्त करने के लिये बिना स्वाद लिये रस, नीरस, योग्य सूत्रानुकूल आहार का ग्रहण करना ही उदराग्नि प्रशमन है ।

(४) अक्षमृक्षणी—जैसे रत्नों से भरी गाड़ी रास्ते पर चलने में किसी प्रकार की गड़बड़ी करती दीखे, तब वणिक लोग उसे घृत, तेलादि पदार्थों से वांग कर इष्ट स्थान पर ले जाते हैं, उसी प्रकार साधुओं को चारित्रादि रत्नों से भरी हुई इस शरीर रूपी गाड़ी को इष्ट स्थान (मोक्ष) तक पहुँचाना है, इसलिये वे इसे योग्य आहार से वांग कर संचालन करते हैं । इसे अक्षमृक्षणी वृत्ति कहते हैं ।

(५) गोचरी—जैसे गौ, घास आदि देने वाले पुरुष या स्त्री के रूप आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखती, अथवा वन में चरने वाली गौ भूमि पर के रूखे-सूखे घास को चरती है, अर्थात् घास को जड़ से नहीं उखाड़ती है; और न वन की सुन्दरता से प्रयोजन रखती है । वह तो उस रूखे-सूखे घास को चर कर मीठा दूध देती है । उसी प्रकार जब मोक्षमार्गी साधु आहार के लिए दाता के घर जाते हैं, तो दाता के पात्रों, उपकरणों या व्यक्ति की शोभा को नहीं देखते, किन्तु आहार की योग्यता व शुद्धि को ही देख कर राग रहित हो, रस, नीरस जैसा भोजन मिले वैसा लेते हैं और उसे लेकर रत्नत्रय का आराधन करते हैं । यही गोचरी वृत्ति है ।

इस प्रकार पाँच वृत्ति सहित साधु भोजन के अवसर में मौन व्रत को भी अखंडित रक्खे और किसी प्रकार के संकेत वगैरह नहीं करे ।

आगे भोजन के समय टालने योग्य अन्तरायों का वर्णन करते हैं—

कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च ।
जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमोचेव ॥७६॥
णाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो ।
कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च ॥७७॥

पाणीए जंतुवहो मंसादीदंसणे य उवसग्गो ।
पादंतरम्मि जीवो संपादो भायणाणं च ॥७८॥
उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं ।
उववेसणं सदंसं भूमीसंफास णिट्ठवणं ॥७९॥
उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहो ।
पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमीए ॥८०॥
एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणस्सेह ।
बीहणलोगदुगंछणसंजमणिव्वेदणट्ठं च ॥८१॥ (मूला० पिं०)

अर्थ—मतिमान साधु जब भोजनार्थ परिभ्रमण करते हैं तो नीचे लिखे बत्तीस अन्तरायों को टालते हैं। उनका खुलासा इस प्रकार है—

१ भोजनार्थ गमन करते अथवा ठहरते हुए साधु के ऊपर काक आदि कोई पक्षी बींट कर दे तो वह काक नाम का अन्तराय है।

२ भोजन को जाते हुए साधु का चरण अमेध्य (विष्ठादि मल) से लिप्त हो जावे तो वह अमेध्य नाम का अन्तराय है।

३ भोजन के समय वमन हो जावे तो वह छर्दिनामा अन्तराय है।

४ कोई पुरुष या स्त्री चलते २ क्रोधित होकर मुनि को रोक देवे (घेर लेवे या पकड़ लेवे) तो वह रोधन नामा अन्तराय है।

५ आपके वा अन्य के शरीर से बाहर चार अंगुल प्रमाण रुधिर (खून) व राध बहती दीखे तो वह रुधिर नामा अन्तराय है।

६ दुख शोक आदि से साधु के अश्रुपात हो जावे अथवा निकटवर्ती लोगों के मरणादिक का अति रोदन, विलाप आदि सुनाई दे तो वह अश्रुपात नामा भोजन का अन्तराय है।

७ सिद्ध-भक्ति करने के पश्चात् दाता के घर से यदि किसी कारण से साधु को विक्षेप हो जावे और भोजन के लिये अन्य घर में जाना पड़े, तब गोड़ों से नीचे स्पर्श हो जावे तो वह जान्वधः नामा अन्तराय है।

८ साधु को जानु (गोड़े) से ऊँचे स्थान पर चढ़ कर नहीं जाना चाहिये। यदि गोड़ों से ऊँची पैड़ी पर चढ़ कर भोजन को जाना पड़े तो वह जानु नाम्न अन्तराय है।

९ दातार के घर का दरवाजा छोटा हो और ऐसी अवस्था में नाभि से नीचा मस्तक करके उस छोटे द्वार में प्रवेश करना पड़े, तो वह नाभ्यधोनिर्गमन नामा अन्तराय है।

१० नियम रूप या यम रूप से त्यागी हुई वस्तु भक्षण में आ जावे, तो स्वप्रत्याख्यात सेवन नाम का अन्तराय है।

११ साधु के सामने कोई किसी जीव को मार डाले तो वह जीव-वध नाम का अन्तराय है।
१२ भोजन करते समय साधु के हाथ में से कोई काक आदि प्राणी ग्रास को झपटकर ले जावे तो वह काकादि-पिंड-हरण नाम का अन्तराय है।
१३ भोजन करते समय साधु के हाथ से ग्रास गिर जावे तो वह पाणि पतन नामा अन्तराय है।
१४ साधु के हाथ मे कोई दो इन्द्रियादि जंतु आकर मर जावे तो पाणि-जन्तु-वध नामा अन्तराय है ।
१५ मृतक पचेन्द्रिय शरीर का अथवा किसी कारण से मांस का दर्शन होजावे तो वह मांस दर्शन नाम का अन्तराय है।
१६ साधु के ऊपर मनुष्य, देव, तिर्यंचादि कृत उपसर्ग आ जावे तो वह उपसर्ग नाम का अन्तराय है ।

१७ भोजन करते हुए साधु के दोनों पैरों के बीच में होकर कोई पंचेन्द्रिय जीव (चूहा, मेंढक) आदि निकल जावे तो वह पादान्तर-जीव नाम का अन्तराय है।

१८ भोजन देने वाले दाता के हाथ से प्रमाद पूर्वक कोई भोजन का भाजनादि जमीन पर गिर पड़े, तो वह भाजन-पतन नामा अन्तराय है।
१९ साधु के शरीर में से रोगादिक के कारण मल निकल आवे तो वह उच्चार नामा अन्तराय है।
२० रोगादि के निमित्त से भोजन करते समय साधु के मूत्र निकल जावे तो वह प्रस्रवण नाम का अन्तराय है।
२१ भिक्षा को भ्रमण करते हुए संयमी का चांडालादि के घरों में प्रवेश हो जावे तो वह अभोज्य गृह प्रवेश नाम का अन्तराय है।
२२ मूर्च्छादि कारणवश साधु का पतन (गिरना) होजावे तो वह पतन नामक अन्तराय है।
२३ किसी कारण से भोजन करते २ बैठ जावे तो वह उपवेशन नाम का अन्तराय है।
२४ गोचरी को जाते हुए साधु को कोई कुत्ता आदि जीव काट खावे तो वह दंशन नाम का अन्तराय है।
२५ भोजन के प्रारम्भ में सिद्ध भक्ति के पश्चात् साधु के हाथ से भूमि का स्पर्श हो जावे तो वह भूमि स्पर्श नामा अन्तराय है।
२६ भोजन करते साधु के कफ या थूक आजावे तो निष्ठीवन नामा अन्तराय है।
२७ साधु के भोजन करते समय उदर में से कृमि (पेट के कीड़े) निकल आवें तो वह कृमिनामा अन्तराय है।
२८ नहीं दी हुई पर की वस्तु को ग्रहण करे तो वह अदत्त ग्रहण नाम का अन्तराय है।
२९ भोजन करते समय साधु या अन्य पर यदि कोई खड्गादि का प्रहार करे तो वह प्रहार नामा अन्तराय है।
३० ग्राम में अग्नि लग जावे तो वह अग्निदाह नाम का अन्तराय है।
३१ साधु स्वय अपने पैरों से गृहस्थ की कोई वस्तु उठावे (ग्रहण) करे तो वह पादग्रहण नाम का अन्तराय है।
३२ साधु स्वयं अपने हाथों से गृहस्थ की किसी वस्तु को ग्रहण करे तो हस्तग्रहण नाम का अन्तराय है।

इस प्रकार भोजन-त्याग करने के ३२ अन्तराय कहे। इनके अतिरिक्त चाण्डालादि का स्पर्श, कलह, इष्ट का मरण, साधर्मी का संन्यास मे पतन, प्रधान पुरुषों का मरण, राजा का भय, लोक-निन्दा, भोजन के घर मे अकस्मात् उपद्रव हो जाना, अपना मौन टूट जाना आदि और भी

अन्तराय हैं, सो वे भी टालने योग्य हैं। भोजन का अग्रहण, आधा भोजन, अल्प भोजन वा एकग्रास भी लिया हो और अन्तराय आजावे तो फिर जिनधर्मी साधु भोजन नहीं करते ऐसी आचाराङ्ग सूत्र की आज्ञा है।

आहार लेने के परिमाण की विधि

अद्धमसणस्स सव्विजणास्स उदरस्स तदियमुदयेण ।
वाऊ संचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू ॥७२॥ (मू० पि०)

अर्थ—संयमी को उचित है कि वह अपने उदर के चार विभाग करे जिसमें दो भाग तो भोजन से और तीसरा भाग जल से भरे तथा चौथे भाग को पवन के विचरने के लिये खाली रक्खे, जिससे कि प्रमाद न बढ़े और ठीक-ठीक तरह से धर्म ध्यान का साधन होता रहे। ऐसा परमागम का उपदेश है।

भोजन के समय मुनि दातारों के घरों मे जावें, तब उनको जिन दोषों से बचना चाहिये उन्हें बताते हैं।

जैसे एक दातार से तो पूरी नवधा भक्ति कराना और तब आहार लेना और दूसरे दातार से इच्छानुसार कम ज्यादा भक्तिएँ कराना अथवा सभी दातारों से अपनी इच्छानुसार भक्तिएँ कराना आचार शास्त्र का उल्लंघन कर जिनाज्ञा का लोप करना है। मुनि को ऐसी उत्पथ प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए।

खयाल रखने की बात है—कि जब पात्र (साधु) श्रावक के घर पर भोजन लेने जावे उस समय चौंके मे चक्की उघाड़ी (खुली) नहीं हो, झाड़ू (बुहारी) न हो, ऊखली (खडनी) उघाडी न हो, भोजन करने के व भोजन बनाने के स्थान पर चदवा लगा हुआ हो, चूल्हे के ऊपर पानी का बर्तन रखा हो, जिससे चूल्हा खुला न रहे, और पानी भरे हुए बर्तन उघाडे न हों, तथा दातार रंगीन कपड़े पहने हुए न हों, एक ही वस्त्र पहने न हो, कम से कम दो वस्त्र पहने हुए हो, स्त्री चोली (कांचली) बिना पहने न हो, चौके में अंधेरा न हो, जहाँ भोजन दिया जावे वहाँ भी अंधेरा न हो, चौके से इतनी दूर आहार लेना जहाँ से दातार के बर्तनों पर पानी के छींटे न लगें। यह स्मरण रहे कि कर्म के निमित्त से अन्तराय हो जावे तो दातार पर हरगिज भी क्रुद्ध न हो, आँखें चढ़ा कर ओछी बातें न बोले। यही साधुमार्ग है।

अब यहाँ पूर्व कथित का संक्षेप करके कुछ ऐसी बातों को गिनाते हैं जिन पर आहार के समय पात्र और दातार दोनों का ध्यान जाना जरूरी है।

(१) चूल्हे के भीतर अग्नि होती है उस पर कुछ न कुछ बर्तन अवश्य रक्खा हो। चूल्हा खुला अर्थात् उघाड़ा न हो।
(२) चौके में जल का बर्तन या कोई भी चीज उघाड़ी नहीं हो।
(३) चौके मे जितनी भी सामग्री चौकी, पाटा लगाये जावें वे हिलें-डुलें नहीं।
(४) भोजन के बर्तन मे सचित्त वस्तु [वनस्पतिकायिक] नहीं रखना चाहिये।

(५) चौके में बादाम, पिस्ता, चारोली [चिरौंजी], दाख, काजू, खुरमाणी, मूँगफली आदि शुद्ध और साफ धोई हुई हो, बिना धुली न रखी हो।

(६) चूल्हे के ऊपर जो पानी का बर्तन भरा हो वह पानी यति के भोजन करते समय उबलना नहीं चाहिये, अर्थात् उबलने की आवाज नहीं आनी चाहिये। यह असंयमी के भी अन्तराय है।

(७) जिन पदार्थों के गट्टे किये जाते हैं वे पदार्थ जैसे आलू, केला, सेव, नासपाती, मोसमी, नारंगी, ककड़ी, खरबूजा वगैरह आदि भी छोटी बारा बराबर गट्टे करके अग्नि पर तपाने अर्थात् गरम करने पर प्रासुक होते हैं। बड़े गट्टे करके नमक मिर्च मिलाने से, चाकू से विभाग करने से प्रासुक नहीं होते, क्योंकि जहाँ चाकू लग गया है वहाँ तो प्रासुक हो गया, लेकिन जहाँ पर चाकू नहीं लगा वहाँ का भीतर का भाग प्रासुक नहीं हुआ।

(८) नक्की, ऊखली, परवण्डा [घिनोची], चौका तथा भोजन करने के स्थान पर चंदवा जरूर होना चाहिये।

(९) दरवाजा ढका हो तो खोले नहीं या खुला हो तो ढके नहीं, जैसे के तैसे रक्खे।

(१०) चौके में कोई वस्तु घसीटे नहीं, उठा कर लेवे।

(११) भोजन करते समय कोई किसी का अनादर नहीं करे।

(१२) भोजन देने वाला ऐसा कह देवे कि अमुक वस्तु मत देवो तो उस पर विचार करे कि यह क्या है? अगर यह अभक्ष्य है तो अन्तराय माने, और प्रकृति विरुद्ध हो तो उसको ले ही लेवे। अगर उस भोजन को नहीं दे तो अन्तराय समझना, डरना नहीं। यही साधु-धर्म की वीरता है, उसी भोजन को जीमना अन्यथा नहीं।

(१३) जिसके हाथ धूजते हों उससे आहार नहीं लेना।

(१४) आठ वर्ष से बड़े के हाथ से आहार ले सकते हैं।

(१५) जिसके अङ्ग कमती हों उससे आहार नहीं लेना। अगर उपांग कमती-बढ़ती हों तो ले सकते हैं।

(१६) चौके में भोजन बिखर जावे तो दोष है।

(१७) एक कपड़े को पहरे पुरुष हो या स्त्री हो उससे आहार नहीं लेना। इस प्रकार भोजन नहीं लेने के और भी कई प्रकार के विचार करने पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में साधु खुद विचार सकते हैं।

आदान निक्षेपण समिति

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो ।
दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ॥१२२॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—संयमी को चाहिये कि संयम की रक्षा के लिये भले प्रकार आँखों से देख व शोध कर, पिच्छी से प्रमार्जन करके किसी वस्तु को उठावे, धरे तथा स्थान का भले प्रकार शोधन व प्रमार्जन करे।

भावार्थ—शास्त्र, पिच्छी, कमण्डलु, चटाई, फलक, पुस्तक इत्यादि सर्व वस्तुओं को तथा स्थान को पहिले अच्छी तरह देखले फिर बड़ी सावधानी से पिच्छी से प्रमार्जन करके उठावे एव धरे। प्रातःकाल सूर्योदय के प्रकाश में पिच्छी इत्यादि को देख कर पिच्छी से मार्जन करे अन्यथा जीव विराधना होना संभव है।

प्रश्न—प्रभात ही इनको शोधना क्यों जरूरी है ?

उत्तर—पुस्तक, संस्तर, इत्यादि में रात्रि को जीवों का आजाना संभव है। ये त्रस कायिक जीव अंधेरे में दृष्टि-गोचर नहीं होते, इसलिये प्रातःकाल प्रकाश में इनका शोधन करना अत्यन्त आवश्यक है। चलते समय भूमि को अच्छी तरह देख भाल कर पांव धरना व उठाना चाहिये यही आदान-निक्षेपण समिति है। इसको नीचे लिखे दोषों से बचावे।

१ शरीरादि को शीघ्रता से सावधानता के बिना उठाना, पटकना, पसारना, संकोचना यह सहसा निक्षेप नामा दोष है।

२ उपयोग पूर्वक नेत्रों से बिना देखे उठाना रखना यह अनाभोग नामा दोष है।

३ अनादर पूर्वक बिना मन लगाये, सिर्फ लोगों को अपनी शुद्धता दिखाने के लिये, अथवा आचार मात्र समझ कर जीव दया रहित पिच्छी से प्रमार्जन करना यह दुष्प्रमार्जन दोष है।

४ बहुत काल बीतने पर जब जीवों का निवास हो जावे तब वस्तु को शोधना, संयमी को प्रातःकाल एवं सायङ्काल दोनों समय सस्तर, उपकरणादि देखने तथा शोधने की सिद्धान्त की आज्ञा है इस आज्ञा की बिना परवाह किये प्रमादी होकर काल व्यतीत होने पर जो शोधना है वह अप्रत्यवेक्षण दोष है।

इस प्रकार निर्दोष स्वस्थ चित्त से ज्ञान, संयमादि के उपकरणों को देखकर, पिच्छी से प्रमार्जन कर उठाना व धरना तथा जीवों की विराधना से सर्वथा बचना मुनि का मुख्य कर्तव्य है। जो मुनि आदान-निक्षेपण समिति के पालन में सतर्क नहीं रहता वह हिंसा से कभी नहीं बच सकता। अत. वस्तुओं को उठाने धरने आदि में पूरा ध्यान रखना चाहिए।

प्रतिष्ठापना समिति

एगंते अचित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणियाहवे समिदी ॥१५॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—जन संचार रहित एकान्त स्थान में, तथा हरित कायिक व त्रसादि जीव जन्तु रहित अचित्त स्थान में, दूर तथा छिपे हुए, बिल व छेदों से रहित, तथा जहाँ लोक निंदा न करें, वा कोई विरोध न करे ऐसे स्थान पर देह के मल मूत्रादि का क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है।

वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुपरोधे वित्थिण्णे ।
अवगदजंतु विवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो ॥१२४॥
उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं ।
अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ॥१२५॥
रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे ।
आसंकविसुद्धीए अपहत्थगफासणं कुज्जा ॥१२६॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—दावाग्नि से जले हुए, हलादि से जुते हुए, श्मशान-अग्नि से जले हुए एवं स्थंडिल भूमि (खार सहित भूमि), जहाँ पर कोई रोके नहीं, विस्तीर्ण (खुला लम्बा-चौड़ा मैदान) त्रस (दोइन्द्रियादि) जीवों से रहित, बिल वगैरह से रहित, निर्जन्तु तथा एकान्त ऐसे स्थान में संयमी-जन मल, मूत्र,कफ, नासिका मल, केशलोंच के बाल,नाखून, छर्दि (वमन), सप्त धातुओं में से किसी भी प्रकार की धातु आदि को खूब देख व शोध के पिच्छिका से प्रतिलेखन कर क्षेपण करें।

रात्रि में मल-क्षेपण करना तो संघ के अधिपति (आचार्य) द्वारा दिन में देखे हुए स्थान पर पिच्छी से मार्जन कर मल, मूत्र क्षेपण करे। अगर एक स्थान पर जीवों की सम्भावना हो तो दूसरी भूमि देखे,वहाँ भी मन साक्षी न दे तो अन्य जगह में ऊँची हथेली रख कर जीव जन्तु न होने का निश्चय कर मल क्षेपे, कदाचित शीघ्रता में मल-क्षेप हो जावे तो विनय पूर्वक प्रार्थना कर गुरु से प्रायश्चित्त ले।

समिति पालन की महिमा

सरवासे वि पडंते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साहू काएसु इरियंते ॥१२०२॥ (भग० आ०)

अर्थ—जैसे रण भूमि में दृढ़ कवच (बख्तर) धारण करने वाला पुरुष बाणों की वर्षा में भी बाणों से नहीं भेदा जाता। उसी प्रकार समिति धारक साधु षट्कायिक जीवों से व्याप्त लोक में प्रवृत्ति करता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।

पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साहू काएसु इरियंतो ॥१३०॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—जैसे कमल पत्र जल में रहता हुआ भी स्नेह गुण वाला होने से जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार साधु, समिति गुण से युक्त हुआ जीव समूह से भरे लोक मे विचरण करता हुआ भी पाप कर्म से लिप्त नहीं होता। यह शुद्ध समिति रूप भावना का ही महात्म्य है।

पंच इन्द्रिय निरोध का स्वरूप

पाँचों समितियों का भले प्रकार साधन करके पाँचों इन्द्रियों को जीतना चाहिये। इनका स्वरूप बताते हैं।

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इन्दिया पंच।
सगसगविसएहिंतो, णिरोहियव्वा सयामुणिणा ॥१६॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—मुनि को चाहिये कि अपने २ विषयों में दौड़ने वाली, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श—इन पाँच इन्द्रियों को सदा अपने वश में रक्खे। इन्द्रियाँ दो तरह की होती हैं—१ द्रव्येन्द्रिय और २ भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय भी दो तरह की है (१) निर्वृत्ति और (२) उपकरण। नाम कर्म के उदय से जो इन्द्रिय रूप रचना है उसे निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति के भी दो भेद हैं (१) बाह्य निर्वृत्ति (२) आभ्यंतर निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग शुद्ध आत्मा के प्रदेशों की चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन इन्द्रियों के आकार रूप प्रतिनियत रचना को आभ्यतर निर्वृत्ति कहते हैं। तथा नाम कर्म के निमित्त से उन आत्म-प्रदेशों पर इन्द्रियाकार रूप पुद्गल प्रदेशों का ठीक २ जहाँ का तहाँ, जैसा का तैसा आकार विशेष होना वह बाह्य निर्वृत्ति है। : उपकरण—ऊपर कही हुई निर्वृत्ति का जो उपकार करता है, उसे उपकरण कहते हैं। इसके दो भेद हैं (१) आभ्यंतर उपकरण (२) वाह्य उपकरण। जैसे चक्षु में कृष्ण शुक्ल मंडल आदि आभ्यन्तर उपकरण है। आँखों के बाहर बाफणी, पलक, रोम वगैरह बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शनेन्द्रिय मे भी बाह्य तथा आभ्यतर भेद समझने चाहिये।

भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की है—(१) लब्धि और (२) उपयोग।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। इस लब्धि के होने पर आत्मा द्रव्येन्द्रिय की निर्वृत्ति (रचना) के लिए तत्पर होता है। इसके निमित्त से जो आत्मा को स्पर्श रसादि का ज्ञान होता है उसे उपयोग कहते हैं।

आत्मा ज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा आंगोपांग नाम-कर्म के उदयसे जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिससे रस को चखता है वह रसना इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूंघता है घ्राणेन्द्रिय है, जिसके द्वारा देखता है वह चक्षु इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है।

इन पांच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं, वर्ण, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। ये पाँचों ही विषय एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र हैं। इन पर विजय प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझ कर सदा इनके निरोध रूप भाव रखना ही पंचेन्द्रिय जय नाम के ५ मूलगुण हैं। अब इनका पृथक पृथक वर्णन करते हैं।

चक्षु निरोध

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥१७॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—सचित्त तथा अचित्त पदार्थों की क्रिया, संस्थान (आकार) या वर्ण भेदों में राग-द्वेष न करना चक्षुनिरोध नामा मूलगुण है।

भावार्थ—ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग के निमित्त भूत चैतन्य गुण से जो सहित हैं उसे सचित्त कहते हैं। ऐसे सचित्त जो देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा देवाङ्गना, मनुष्य-स्त्री, और तिर्यञ्चनी एवं अचित्त (अजीव द्रव्य की बनी) स्त्री-पुरुष के चित्र आदि के मनोज्ञ आकार, रूप, अलङ्कार, हाव, भाव, विलास आदि को देख कर राग न करना और अमनोज्ञ में द्वेष न करना चक्षुनिरोध नामा मूलगुण है।

श्रोत्रेन्द्रिय निरोध

सड्जादिजीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे ।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ॥१८॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—चेतन के द्वारा उत्पन्न षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इन सात स्वरों मय सुरीले शब्दों में तथा अचेतन मृदंग, वीणा, अलगोजा आदि के शब्दों में एवं सारंगी आदि तार के बाजे और जलतरंग, ग्रामोफोन आदि के सुस्वर शब्दों में राग सहित न होना, तथा गर्दभ, कौआ आदि के शब्दों में द्वेष सहित न होना, सो श्रोत्रेन्द्रिय निरोध है। अर्थात् सचेतन एवं अचेतन पदार्थों से उत्पन्न कर्णप्रिय मनोहर शब्दों को सुन कर उनमें आसक्त न होना और कर्ण कटु असुहावने शब्दों को सुनकर उनमें द्वेष न करना ही श्रोत्रेन्द्रिय विजय कहलाता है।

घ्राणेन्द्रिय विजय

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥१९॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—चेतन अथवा अचेतन पदार्थों की सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध में राग-द्वेष नहीं करना, यही यतिवरों के घ्राणेन्द्रिय विजय कहलाता है।

भावार्थ—कमल, केतकी, मोगरा, चमेली, मरुआ के पुष्प आदि सचित्त द्रव्य तथा केशर, चन्दन कर्पूरादि अचित्त द्रव्यों की मनोज्ञ गन्ध में राग नहीं करना, तथा विष्ठा मूत्रादि दुर्गन्ध मय पदार्थों में घृणा या द्वेष नहीं करना, किन्तु वस्तु स्वरूप विचार कर समभाव रखना, यही घ्राणेन्द्रिय विजय है, यह इन्द्रिय विजय ही कर्मबन्ध से बचने में निमित्त है। इसलिये वस्तु स्वरूप का विचार कर आत्मानुभव उत्पन्न करना चाहिये। कहा भी है :—

वस्तु स्वरूप विचारते, उपजे मन विश्राम ।
रसस्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम ॥

अर्थात्—अनुभव ही संसार में सब से उत्कृष्ट पदार्थ है, इसी के बल से वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता है, तथा राग-द्वेष घृणा मिट जाती हैं एवं कर्मबन्धन ढीले हो जाते हैं।

रसना इन्द्रिय विजय

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हिणिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ॥२०॥ (मूला० मूलगुणा)

अर्थ—दाल, भात, रोटी आदि खाद्य, इलाइची, सुपारी आदि स्वाद्य, रबड़ी, चटनी आदि लेह्य और दूध, पानी आदि पेय ऐसे चार प्रकार के आहार में इष्ट अनिष्ट भाव नहीं रखना, गृद्धता नहीं करना, रस सहित वा नीरस में समान बुद्धि रखना, कदाचित् रस सहित पदार्थों में स्वाद की अपेक्षा नहीं करके भूख की वेदना उपशमन करने के लिये आहार लेना, उसमें किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करना ही रसनाइन्द्रिय-विजय है।

स्पर्शनेन्द्रिय विजय

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे।
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥२१॥ (मूला० मूलगुणा०)

अर्थ—हलका, भारी, ठण्डा, गर्म, रूखा, चिकना, कठोर, नर्म—इन जीव और अजीव से सम्बन्ध रखने वाले आठ प्रकार के स्पर्शों में इष्ट हो तो राग न करना और अनिष्ट हो तो द्वेष नहीं करना स्पर्श इन्द्रिय-विजय है।

भावार्थ—जैसे रतिकाल में स्त्रियों का स्पर्श सुख रूप है, वही अरति-काल अथवा कलह-काल में दुःख रूप हो जाता है। शीत-काल में रुई के वस्त्र सुखदायक और उष्णकाल में वे ही वस्त्र दुःखदायक होते हैं। ऐसे पदार्थों की सुख-दुःख रूप परिणति को काल्पनिक समझ कर राग-द्वेष रहित होना, समभाव रूप स्वस्थ चित्त रहना, यह स्पर्शनेन्द्रिय विजय है। जहाँ चित्त के प्रतिकूल विषय प्राप्त हों वहाँ द्वेष नहीं करना, जहाँ अनुकूल विषयों की प्राप्ति हो वहां राग नहीं करना। किन्तु अति उत्कृष्ट वीतराग भावों का आश्रय लेना ही साधुओं का कर्तव्य है।

इन्द्रियों के सम्बन्ध में किसी कवि ने कहा है :—

मृग, अलि, मीन, पतंग, गज, एक एक में नाश।
जिनके पांचों घट वसें, उनकी कैसी आस ॥

भावार्थ—एक एक इन्द्रिय में आसक्त होने वालों ने अपना कैसा नाश किया है, यह नीचे के दृष्टान्तों से खुलासा करते हैं।

(१) मृग—देखो मृग कितना चंचल होता है, जरा सी भी खडखड़ाहट सुने तो भाग जाता है। किन्तु वही संगीत के सुरीले शब्दों को सुन कर इतना मस्ती में आ जाता है कि वह अपने आप को भी भूल जाता है और खड़ा हो जाता है। ऐसी अवस्था में शिकारी उसको अनायास ही मार डालता है। कर्णेन्द्रिय के कारण ही उसकी ऐसी दुर्दशा होती है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

(२) अलि (भौंरा)—सुगन्ध का लोभी कमल के फूल में जा कर बैठ जाता है, फिर वहाँ से उठना ही नहीं चाहता, वहाँ ही रात हो जाती है, तब भौंरा कमल में ही बन्द हो जाता है। वह सोचता है कि सवेरा होगा तब मैं इसमें से निकलूंगा। इतने में ही हाथी आकर उस कमल को तोड़कर खा जाता है और भौंरा प्राणों से रहित हो जाता है। यह घ्राणेन्द्रिय की आसक्ति का फल है।

(३) मीन (मछली)—जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होकर कांटे में लगे हुए आटे को खाने को दौड़ती है और उसमें ही वह फँस जाती है। मांसभक्षी लोग उसे पकड़ कर मार डालते हैं। रसना-इन्द्रिय की आसक्ति से ही उसकी यह दुर्दशा होती है।

(४) पतंग—पतंग दीपक के आकर्षक रूप को देखकर इतना मोहित होता है कि वह एक दम आकर दीपक से लिपट जाता है और भस्म हो जाता है। रूप का लोभी यह विवेकहीन उन्मत्त पतंग चक्षु इन्द्रिय के कारण ही ऐसी दशा को प्राप्त होता है।

(५) गज—हाथी इतना बड़ा होने पर भी कागज की बनी हुई हथनी को स्पर्श करने के लिए दौड़ता है और स्पर्शनेन्द्रिय की आसक्ति के कारण छोटे से मनुष्यों के द्वारा खड्डे में पटक दिया जाता है, तथा पराश्रित होकर अनन्त दुःख उठाता है। बात यह है कि हाथी पकड़ने वाले हाथियों के पानी पीने की जगह के पास ही एक गहरा लम्बा चौड़ा खड्डा खोदते हैं और उसके ऊपर तृण, बाँस आदि का छप्पर डाल देते हैं। फिर उस पर एक कागज की हथनी खड़ी कर देते हैं। उसे देखकर कामोन्मत्त हाथी एक दम अपने आप को भूल कर उसके पास दौड़ आता है और उस खड्डे में फँस जाता है तथा फिर मनुष्यों के द्वारा बन्धन को प्राप्त होकर वह सदा के लिए पराधीन हो जाता है।

इन दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाता है कि एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होने से प्राणी को कैसे-कैसे दुःख उठाने पड़ते हैं। फिर जिनके पाँचों ही इन्द्रियों की आसक्ति हो, उनका कैसे भला हो सकता है? इसलिये महर्षि लोग इन्द्रियों का दमन करके अपना कल्याण करते हैं। यही इन्द्रिय-निरोध नाम का पाँच भेदों वाला मुनियों का मूलगुण कहलाता है।

षट् आवश्यक

मुनियों के मूल गुणों में षट् आवश्यकों का स्थान बहुत महत्व पूर्ण है। मुनि यदि इस ओर उपेक्षा करे तो वह कर्तव्यच्युत हो जाता है। यह आवश्यक मुनि के जीवन में प्रमाद नहीं आने देते। उसे अपने कर्तव्य की ओर सदा सतर्क रखते हैं। इसलिए कर्मों के निर्मूल करने में उद्यत मुनि का इनकी ओर विशेष ध्यान रहना चाहिए। इन आवश्यकों का यहाँ विशेष रूप से वर्णन किया जाता है।

आवश्यक शब्द का अर्थ

ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावासयंत्ति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥१४॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—जो प्राणी कषाय और राग-द्वेष के वशीभूत न हो वह अवश है, उस अवश के आचरण रूप कर्तव्य को आवश्यक कहते हैं।

आवश्यक के ६ भेद

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं ।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥१५॥ (मूल० पडाव०)

अर्थ—(१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वंदना (४) प्रतिक्रमण (५) प्रत्याख्यान, (६) और कायोत्सर्ग—यह छह प्रकार के आवश्यक हैं, अब इनका भिन्न २ वर्णन करते हैं।

सामायिक

णामट्ठवणादव्वे खेत्ते काले तहेव भावेय ।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विहो णेओ ॥१७॥ (मूला० पडाव०)

अर्थ—(१) नाम सामायिक (२) स्थापना सामायिक (३) द्रव्य सामायिक (४) क्षेत्र सामायिक (५) काल सामायिक (६) भाव सामायिक, ये सामायिक के छह भेद हैं।

१ नाम सामायिक—शुभ अथवा अशुभ नाम में राग द्वेष नहीं कर के समभाव रखने को नाम सामायिक कहते हैं। अथवा जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया की अपेक्षा न करके, सामायिक संज्ञा (सामायिक यह नाम ही) नाम सामायिक है।

२ स्थापना सामायिक—यथोक्त मान व उन्मान आदि गुण युक्त शुभ व अशुभ स्थापना में राग द्वेष रहित होने को स्थापना सामायिक कहते हैं। अथवा सामायिक मे परिणत मनुष्य के तदाकार अथवा अतदाकार परिणमन में यह सामायिक है ऐसा गुणारोपण करने को स्थापना सामायिक कहते हैं।

३ द्रव्य सामायिक—सोना, चांदी, मोती, माणिक, मिट्टी, काठ, कांटे, पत्थर आदि में समदृष्टि रखना, अर्थात् उनमें राग द्वेष न करना द्रव्य सामायिक है।

द्रव्य सामायिक दो प्रकार का है—(१) आगम द्रव्य सामायिक (२) नो आगम द्रव्य सामायिक।

१ आगम द्रव्य सामायिक—कोई मनुष्य सामायिक का स्वरूप कहने वाले शास्त्र का जानने वाला हो परन्तु वह वर्तमान काल में उस शास्त्र में उपयोग नहीं रख रहा हो वह आगम द्रव्य सामायिक है।

२ नो आगम द्रव्य सामायिक तीन प्रकार का है—(१) ज्ञायक शरीर, (२) भावी, (३) तद्व्यतिरिक्त।

१ ज्ञायक शरीर—सामायिक के स्वरूप को जानने वाले के शरीर को ज्ञायक शरीर कहते हैं, उसके तीन भेद हैं, भूत, भविष्यत, और वर्तमान। भूत ज्ञायक शरीर तीन प्रकार का है (१) च्युत, (२) च्यावित और (३) त्यक्त। १ च्युत—जो सामायिक शास्त्र ज्ञाता का भूत शरीर

दूसरे किसी कारण के बिना केवल आयु के पूर्ण होने पर नष्ट हुआ हो वह च्युत है। जैसे पके हुए फल का गिरना। २ च्यावित—जो ज्ञायक का भूत शरीर कदली घातवत् किसी बाह्य निमित्त से नष्ट हो गया हो किन्तु संन्यास विधि से रहित हो उसे च्यावित कहते हैं। ३ त्यक्त—जिस शरीर को कादली घात सहित अथवा कदली घात बिना सन्यास रूप परिणामों से छोड़ दिया हो उसे त्यक्त कहते हैं*। सामायिक शास्त्र का ज्ञाता जिस शरीर को आगामी काल में धारण करेगा, वह भविष्यत ज्ञायक शरीर है और जिस शरीर को धारण किये हुए है उसे वर्तमान ज्ञायक शरीर कहते हैं।

अब भावी और तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य को कहते हैं।

(२) जो सामायिक शास्त्र का जानने वाला आगे होगा, वह भावी नो आगम द्रव्य सामायिक है।

(३) तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य दो प्रकार का है। १ कर्म और २ नोकर्म। १ ज्ञानावरणादि मूल प्रकृति रूप अथवा मतिज्ञानावरणादि उत्तर प्रकृति स्वरूप परिणमता हुआ जो कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य, वह कर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य सामायिक है। २ कर्म स्वरूप द्रव्य

---

* त्यक्त शरीर के भी तीन भेद हैं—(१) भक्त प्रत्याख्यान, (२) इंगिनी और (३) प्रायोग्य।

१ भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप

जो भोजन न लेने की प्रतिज्ञा लेकर सन्न्यास मरण पूर्वक शरीर छोड़ा जाता है, उसे भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। यह भक्त प्रत्याख्यान भी उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है।

उत्तम भक्त प्रत्याख्यान का समय बारह वर्ष है तथा जघन्य का अन्तर्मुहूर्त्त है। दोनों के मध्य का काल मध्यम भक्त प्रत्याख्यान का समय है।

२ इंगिनीमरण का स्वरूप

अपने शरीर की टहल आप ही अपने अङ्गों से करे, किसी दूसरे से रोगादिक का उपचार नहीं करावे, ऐसे विधान से जो सन्न्यास धारण कर मरे, उस मरण को इंगिनीमरण कहते हैं।

३ प्रायोग्य (प्रायोपगमन) मरण का स्वरूप

जिसमें अपने तथा दूसरों के द्वारा भी उपचार न हो, अर्थात् अपनी टहल न तो आप करे न दूसरों से करावे, ऐसे सन्न्यास मरण को प्रायोपगमन सन्न्यास कहते हैं।

से भिन्न जो पुद्गल द्रव्य (शरीरादि) है, वह नो कर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य सामायिक है। इसके तीन भेद हैं—१ सचित्त, २ अचित्त और ३ मिश्र।

१ सचित्त—उपाध्यायादि, २ अचित—पुस्तकादि, ३ और मिश्र—उभय रूप। इस प्रकार द्रव्य सामायिक के भेद प्रभेद समझने चाहिए।

(४) *क्षेत्र सामायिक*

बगीचा, महल, श्मशान, कण्टकाकीर्ण जंगल इत्यादि शुभ तथा अशुभ क्षेत्रों में राग-द्वेष छोड़ कर समभाव धारण करने को क्षेत्र सामयिक कहते हैं। अथवा—सामायिक में परिणत जीवों से अधिष्ठित चम्पापुर, गिरनार आदि क्षेत्रों को भी क्षेत्र सामयिक कहते हैं।

(५) *काल सामायिक*

शरद, वसन्त, ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं में, दिन रात में तथा कृष्ण शुक्लपक्ष में यथायोग राग-द्वेष रूप परिणति से विरक्त होकर समभाव रूप रहने को काल सामायिक कहते हैं अथवा सामायिक में परिणत जीव के समय को भी काल सामयिक कहते हैं।

(६) *भाव सामायिक*

सम्पूर्ण जीवों में मैत्री भाव रखना, शुभाशुभ इष्ट अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष को छोड़ना भाव सामायिक है अथवा वर्तमान सामायिक पर्याय से उपलक्षित आत्म द्रव्य को भाव सामायिक कहते हैं। अर्थात् वर्तमान में जो आत्मा सामायिक (समभाव) रूप परिणति वाला हो रहा है उसे भाव सामायिक कहते हैं।

इस प्रकार ६ तरह का सामायिक बताया गया है, उनमें से भावसामायिक ही आत्मा का कल्याण करने वाला है। अतः मन, वचन, काय की एकाग्रता से समता सहित राग-द्वेष रहित आत्मा में लीन होना यही भाव सामायिक का स्वरूप है। यह सामायिक एकान्त में, गुफा, श्मशान, जंगल, वसतिका, चैत्यालयादि में करना चाहिये। सामायिक के और भी विशेष गुण बताते हैं।

परिग्रह और उपसर्ग का जीतने वाला, बारह भावना व पाँच समिति में सावधान, यम नियम में नियुक्त ऐसा संयमी; शत्रु मित्र में, मान अपमान में, महल श्मशान में तथा स्त्री मात्र में, द्रव्य पर्यायों में समता धारण कर राग-द्वेष का वर्जन करता है। वास्तव में जो सर्वपापों से विरक्त है, गुप्ति से सुरक्षित है, इन्द्रिय विजयी है, आर्त्त रौद्र को छोड़ कर धर्म शुक्ल ध्यान को ध्याता है, वही सामायिकवान है। सामायिक की ऐसी महिमा है, इसी से गृहस्थ भी मुनि सदृश हो जाता है।

चतुर्विंशति स्तवन का स्वरूप

कीर्तनमर्हत्केवलिजिनलोकोद्द्योतधर्मतीर्थकृताम् ।
भक्त्या वृषभादीनां यत्स चतुर्विंशतिस्तवः षोढा ॥३७॥ (अन० ध० अ० ८)

अर्थ—लोक में धर्म का उद्योत करने वाले केवली जिन और वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करना सो चतुर्विंशति स्तवन है, वह छह प्रकार का होता है—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो थवह्मि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥४१॥ (मूला० षडाव०)

अर्थ—नाम स्तवन, स्थापना स्तवन, द्रव्य स्तवन, क्षेत्र स्तवन, काल स्तवन, भाव स्तवन इस प्रकार छह निक्षेप रूप इसका भी सामायिक की तरह विकल्प कर लेना चाहिये।

अथवा यह चतुर्विंशति स्तवन इस प्रकार और इसलिये किया जाता है—समस्त लोक (जगत्) का उद्योत (प्रकाश) करने वाले लोकोद्योत कर, संसार से तरने के उपाय भूत दशलक्षण धर्म तथा रत्नत्रय धर्मरूप तीर्थ का प्रवर्त्तन करने वाले तीर्थंकर, कीर्तन करने योग्य प्रत्यक्षदर्शी केवली और कर्म शत्रु को जीतने वाले अर्हंत एवं जिनेन्द्र देव के प्रसाद से मुझे बोधि (सम्यक्त्व सहित ज्ञान) की प्राप्ति हो।

स्तवन में नीचे लिखे अनुसार नव निक्षेपों से लोक का स्वरूप विचारना चाहिये।

णाम ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य ।
भवलोगो भावलोगो, पज्जयलोगो य णादव्वो ॥४४॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—१ नाम लोक, २ स्थापना लोक, ३ द्रव्य लोक, ४ क्षेत्र लोक, ५ चिह्न लोक, ६ कषाय लोक, ७ भाव लोक, ८ भवलोक, ९ और पर्याय लोक। इनका पृथक् २ स्वरूप कहते हैं।

१ नाम लोक—जितने भी शुभाशुभ नाम हैं, उनमें राग-द्वेष न करना चाहिये, क्योंकि नाम तो अनेक प्रकार के हुआ करते हैं, आत्मा का स्वभाव तो शान्त रूप और पुद्गल से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं रखने वाला चैतन्यमय है।

२ स्थापना लोक—यह लोक अनादि निधन है, इसमें दृश्यमान पदार्थ कृत्रिम भी हैं और अकृत्रिम भी हैं। सब पदार्थ द्रव्य रूप से नित्य हैं और पर्याय रूप से अनित्य या विनश्वर हैं। जो पदार्थ जैसे के तैसे रहें, जिनकी व्यञ्जन पर्याय में भेद प्रतीति न हो वह अकृत्रिम और जो बनते बिगड़ते हों वे कृत्रिम हैं। इन सब को स्थापना लोक कहते हैं।

३ द्रव्य लोक—इस लोक में दो तरह के द्रव्य हैं। (१) चेतन द्रव्य और (२) अचेतन द्रव्य। जीव द्रव्य चेतन (चेतना गुणवाला) है और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन हैं। इनमें से पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला होने से रूपी है और शेष अरूपी हैं। काल और परमाणु अप्रदेश रूप हैं और शेष सब सप्रदेशी हैं। सम्पूर्ण द्रव्य, अर्थ-पर्याय की अपेक्षा परिणामी हैं। जीव और पुद्गल व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा भी परिणामी होते हैं। तथा धर्म, अधर्म आकाश और काल ये व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा अपरिणामी हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य हमेशा एक-से रहने वाले हैं। जीव और पुद्गल क्रियावान हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं। पांचों ही (धर्मादि पुद्गलान्त) अजीव द्रव्य क्रम से गति, स्थिति, अवकाश, परिवर्तन और प्राणापान, शरीर आदि के द्वारा जीव द्रव्य का उपकार करने करने वाले हैं। फिर भी जीव इन सबसे पृथक् स्वतंत्र द्रव्य है। अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता तथा उनके फल का भोक्ता है, इसलिये शरीर प्रमाण क्षेत्रावगाही मूर्तिमान् भी है। आकाश सर्वगत है, धर्म द्रव्य गति में, अधर्म द्रव्य स्थिति में, तथा काल परिवर्तन मे सहायता देता है, यह सब द्रव्य-लोक है।

४ क्षेत्र लोक—यह लोकाकाश अपने प्रदेशों से उर्ध्व, मध्य, तथा अधः इस प्रकार तीन भागों में बँटा हुआ है, अनादि निधन चौदह राजू प्रमाण ऊँचा है। अधो भाग मे नरक निगोद तथा भवनवासी, व्यंतर देव रहते हैं, मध्य लोक मे मनुष्य तिर्यंच व ज्योतिषी देवों का निवास है, उर्ध्व लोक में सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पांच अनुत्तर विमान है। अंतिम विमान सर्वार्थ सिद्धि से बारह योजन ऊपर सिद्ध लोक है, जहाँ सर्व कर्मों से मुक्त निरंजन निराकार सिद्ध जीव वर्तमान हैं।

५ चिह्न (आकार) लोक—द्रव्य गुण और पर्यायों का जो आकार दिखाई देता है यह चिह्न लोक है।

धर्म, अधर्म का संस्थान (आकार) लोक के आकार के समान है, काल द्रव्य का संस्थान आकाश के प्रदेश स्वरूप है।

आकाश का संस्थान केवलज्ञान मे है, लोकाकाश का ग्रह गुहा आदि रूप संस्थान है।

पुद्गल द्रव्यों का संस्थान द्वीप, नदी, सागर, पर्वत, पृथ्वी आदि स्वरूप है।

जीव द्रव्य का समचतुस्र (समचौरस) न्यग्रोध, वामन आदि रूप संस्थान है।

गुणों में कृष्ण, नील, सफेद, हरित आदि रूप अथवा द्रव्याकार रूप संस्थान है।

पर्यायों में दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, (गोल), त्रिकोण, चौकोर, तथा नारकी, नर, तिर्यंच, देव आदि रूप संस्थान है। जो भगवान के ज्ञान में देखा गया द्रव्य, गुण और पर्यायों का आकार है उसको चिह्न लोक कहते है।

६ कषाय लोक—जिस जीव के क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषायें उदय उदीरणा को प्राप्त होती हैं, उसे कषाय लोक कहते है।

७ भवलोक—नारक, देव, मनुष्य और तिर्यंचों की योनि मे जीवों का निज आयु उदय प्रमाण स्थित रहना वह भवलोक है।

८ भाव लोक—जिस जीव में राग द्वेष का उदय या उदीरण का तीव्र आवेश हो, वह भाव लोक है। यह चार प्रकार का है। (१) द्रव्यगुण, (२) क्षेत्रपर्याय, (३) भावानुभाव, (४) भाव परिणाम। आगे इनका खुलासा करते हैं।

१ द्रव्य गुण—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, कृष्ण, नील, शुक्ल, रक्त, पीत, गतिकारकत्व, स्थिति कारकत्व, एकत्व, [illegible], अगुरुलघु आदि ये द्रव्यों के गुण हैं।

२ क्षेत्र पर्याय—सप्त नरक, पृथ्वी प्रदेश, [illegible] विदेह, अपर विदेह, भरतैरावतादि क्षेत्र, द्वीप, समुद्र, त्रेसठ पटल स्वर्ग भूमि के भेद आदि [illegible] हैं।

३ भावानुभाव—आयु के जघन्य मध्यम व उत्कृष्ट भेदों के भोगने को भावानुभाव कहते हैं।

४ भाव परिणाम—शुभ अशुभ रूप कर्म के आदान विसर्ग में समर्थ परिणाम सो भाव परिणाम है।

भावार्थ—भाव नाम परिणाम का है, जो शुभाशुभ रूप है और कर्मों के ग्रहण और त्याग करने समर्थ है, तथा वह भाव असंख्यात लोक परिमाण हैं। उद्योत का स्वरूप दिखाते हैं।

६ उद्योत—संसार में प्रकाश दो तरह का है। (१) द्रव्य प्रकाश और (२) भाव प्रकाश, द्रव्य प्रकाश—अग्नि, दीपक, रत्न, माटी, चन्द्रमा सूर्य, इत्यादि। (२) भाव उद्योत ज्ञान है, क्योंकि वह स्वपर प्रकाशक है। वह पाँच प्रकार का है— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। मति ज्ञान को आभिनिबोध भी कहते हैं।

द्रव्य उद्योत (प्रकाश) अन्य द्रव्यों से रुक जाता है और परिमित क्षेत्र में ही प्रकाश करता है। भाव उद्योत सब को प्रकाशित करता है, किसी से रुकता नहीं, उसका क्षेत्र परिमित नहीं, किन्तु सम्पूर्ण लोक एवं अलोक भी है। जिनेन्द्र भगवान् द्रव्य उद्योत प्रकाश से उद्योत करने वाले नहीं हैं, क्योंकि वह तो दूसरे द्रव्यों से रुक जाता है। चोवीसों तीर्थंकर भाव उद्योत के करने वाले हैं, इसलिये उन्हें लोकोद्योत कहते हैं।

आगे 'धर्म तीर्थंकर' पद का व्याख्यान करने के लिये पहले धर्म शब्द को दिखाते हैं।

धर्म के तीन भेद माने हैं—१ श्रुत-धर्म, २ अस्तिकाय-धर्म और ३ चारित्र-धर्म। इनमें श्रुत-धर्म तीर्थ कहा जाता है, क्योंकि यही संसार से तारने वाला है, अन्य तारने वाले नहीं हैं।

तीर्थ के भी दो भेद हैं—(१) द्रव्यतीर्थ, और (२) भावतीर्थ। (१) द्रव्यतीर्थ परमार्थ-तीर्थ रूप नहीं है, क्योंकि यह जीवों को संसार से तारने वाला नहीं है। (२) भावतीर्थ–जिसमें और किसी की अपेक्षा नहीं ऐसे निस्तरण के उपाय को भावतीर्थ कहते हैं।

अब इन दोनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप कहते हैं :—

(१) द्रव्यतीर्थ से थोड़े समय के लिये जीवों की तृष्णा (इच्छा) का, तथा तृषा (प्यास) का एवं शरीर के दाह (संताप) का उपशम होता है। इससे शरीर के ऊपर का मैल धुलता है, परन्तु धर्म-पुण्यादि नहीं होता। इसलिये उक्त तीन कारणों से युक्त द्रव्यतीर्थ होता है।

(२) भावतीर्थ—सब ही तीर्थंकर दर्शन, ज्ञान, चारित्रयुक्त हैं, ये भावतीर्थ हैं। क्योंकि ये जीवों की तृष्णा का तथा दाह का सदा के लिए नाश कर देते हैं और आत्मा में लगे हुए कर्म-मल को धो डालते हैं। इसलिये वास्तव में ये ही तीर्थ माने गये हैं। क्योंकि ये भाव उद्योत से लोक का उद्योत करने वाले हैं और भावतीर्थ से धर्मतीर्थ के करने वाले हैं। ये ही सिद्धगति के योग्य हैं, इसलिए इन्हें अर्हन्त कहते हैं। इन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को जीत लिया है, अतः इन्हें जिन कहते हैं। कर्म शत्रु और संसार भ्रमण का ये नाश करने वाले हैं, इसलिये पूजा सत्कार वन्दना व नमस्कार करने योग्य हैं।

जिन्होंने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय का उपदेश दिया है, ये भगवान् सुर असुर धरणीन्द्र नरेन्द्र आदि महापुरुषों के द्वारा सदा ही कीर्तन करने के योग्य हैं। सर्व प्रतिपक्षी कर्मों को नाश कर ये केवल ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोकालोक को जैसे का तैसा देखते हैं, जानते हैं, इसलिये

इन्हें केवली कहते हैं। जिन्होंने दर्शन मोह, चारित्र मोह तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को नष्ट कर दिया है, उन्हें उत्तम कहते हैं। ऐसे पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य दें, जन्म-मरण रूप रोग से मुक्त करें, बोधि दें अर्थात् भेद विज्ञान की प्राप्ति करावें, तथा जिन-दीक्षा के सन्मुख करें, समाधि-मरण देवें।

शंका—क्या आगामी आरोग्य, बोधि, समाधि माँगना निदान नहीं है ?

समाधान—यह निदान नहीं है। भगवान् किसी को कुछ देते-लेते नहीं हैं, क्योंकि उनके राग-द्वेष नष्ट होगया है। वे न तो किसी को समाधि देते हैं और न बोधि ही देते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि भगवान आत्मा के बोधि और समाधि प्राप्त करने में निमित्त कारण बन सकते हैं। इसलिये उपचार से भगवान को बोधि समाधि का दाता मान लिया गया है। निदान तो सांसारिक भोगों की वांछा को कहते हैं। बोधि, समाधि और परिणाम शुद्धि की आकांक्षा करना कोई बुरी बात नहीं है। 'नियतं भोगेषु चित्तं दीयते येन' इस निरुक्ति के अनुसार भोगाकांक्षा ही निदान कहलाती है। अठारह दोषों से रहित अर्हंत में, धर्म में, श्रुत में, आचार्यों में, उपाध्यायों में, मुनियों में, उत्तम चारित्रधारियों मे भक्ति का होना, यह सब शुभ राग है। इससे निदान का कोई सम्बन्ध नहीं है।

पैरों की चार अंगुल के अन्तर से रख, शरीर और भूमि को पिच्छिका से शुद्ध कर, चित्त में राग-द्वेष को दूर कर, आकृति को शान्त बना, सांसारिक आशा से दूर रह, मुनि को अपने कल्याण के लिये भगवान की स्तुति करना चाहिये, तब ही मुनि मार्ग के मूल गुणों की यथार्थ उपासना व साधना हो सकती है।

द्रव्य-स्तवन के प्रकरण में मूलाचार की वसुनन्दि कृत टीका में "अर्चयित्वा च गन्धपुष्पादिभिः प्रासुकैः आनीतैः दिव्यस्वरूपैश्च दिव्यैर्निराकृतमलपटलैः सुगन्धैश्चतुर्विंशतितीर्थंकरपदयुगलानामर्चनं कृत्वा।" अर्थात्—लाये हुए गन्ध-पुष्पादि दिव्य प्रासुक द्रव्यों से वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों की पूजा करके" इत्यादि लिखा है। यह मुनियों के मूलगुणों का प्रकरण है। मुनियों के लिये पूजार्थ द्रव्य लेना, माँगना, अचित्तादि करना कैसे संभव हो सकता है ? यह कथन आम्नाय परम्परा से नहीं मिलता। इसलिये यह कथन कहीं से उठा कर बाद में रख दिया मालूम होता है। मुनि के द्वारा तो किसी प्रकार की भी द्रव्य पूजा उचित नहीं है। हाँ, गाथा में 'अच्चिदूण' ऐसा शब्द जरूर है, जिससे प्रमाणित होता है कि मुनि अपने भावों में स्थापना द्वारा संकल्प कर द्रव्य संस्तवन के समय भावरूप द्रव्यों से पूजा कर सकता है, न कि द्रव्यों से। आजकल कोई मुनि गृहस्थों से द्रव्य लेकर भगवान की पूजा करने का विधान कहते हैं। यह बिल्कुल भूल-भरी बात है। क्योंकि मुनियों को सिद्धान्त में निरारंभी कहा है। वे द्रव्य लेकर पूजा करने लगें तो निरारंभी कहाँ रहे, इसलिये यह कथन मुनिमार्ग की परपरा के विरुद्ध है। द्रव्य-पूजा तो मुनियों को ही क्या, किन्तु आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, परिग्रह त्याग एवं अनुमति त्याग प्रतिमा वालों को भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह शिथिलाचार एवं आर्षमार्ग-विरुद्ध विधान है। श्रीपद्मनन्दि कृत सिद्ध पूजा में "निज-मनो-मणि-भाजन भारया, समरसैक सुधारसधारया" अर्थात् अपने मन रूप मणियों के बर्तन में समता रूपी अमृत की धारा सेपूजन करना बताया है। यही बात शास्त्र परंपरा के अनुकूल है। श्रावकों से द्रव्य माँग कर पूजा करने में कई प्रकार की आपत्तियाँ हैं, इसलिये सर्वथा आरंभ त्यागी मुनियों के लिये यह बात किसी भी तरह नहीं बनती है।

वन्दना आवश्यक का स्वरूप

वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा ।
भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया ॥४६॥ (अन० धर्मा० अ० ८)

अर्थ—पूज्य चतुर्विंशति तीर्थंकरों में से किसी एक को नमस्कार करना, स्तुति करना, भक्ति सहित पूजा करना, जय-जयकार करना आदि विनयक्रिया वन्दना कहलाती है।

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो खलु वंदणगे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो ॥४८॥ (मूला० षिडा०)

अर्थ—नाम-वन्दना, स्थापना-वंदना, द्रव्य-वंदना, क्षेत्र-वंदना, काल-वंदना और भाव-वंदना—इस प्रकार छः भेद वंदना के हैं।

इन छहों का स्वरूप—

नामोच्चारणमर्चाङ्गकल्याणावन्यनेहसाम् ।
गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोर्नामादितन्दना ॥४९॥ (अन० धर्मा० अ० ८)

अर्थ—(१) नाम-वंदना—चतुर्विंशति तीर्थंकरों में से किसी एक का नामोच्चारण करना नाम-वन्दना है।
(२) स्थापना-वंदना—चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक तीर्थंकर की प्रतिमा की स्तुति पूजा करना स्थापना-वंदना है।
(३) द्रव्य-वंदना—चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक के अङ्गों की स्तुति करना द्रव्य-वंदना है।
(४) क्षेत्र-वंदना—तीर्थंकरों के कल्याणकों की भूमि का स्तवन करना क्षेत्र-वंदना है।
(५) काल-वंदना—तीर्थंकरों के प्रत्येक कल्याणक के समय की या वर्तमान तिथियों में उस समय का आरोप करके भक्ति स्तुति करना काल-वंदना है।
(६) भाव-वंदना—चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का शुद्ध मन, वचन, काय से स्तवन करना, सो भाव-वंदना है।

वन्दना आवश्यक के ४ भेद

१ कृति कर्म—जिससे पूर्वकृत अष्टकर्मों का नाश हो, वह कृतिकर्म है।
२ चिति कर्म—जिससे पुण्य कर्म का संचय हो, वह चिति कर्म है।
३ पूजा कर्म—जिससे पूजा की जावे वह पूजा कर्म है।
४ विनय कर्म—जिससे सेवा-सुश्रूषा की जावे, वह विनय कर्म है।

इस प्रकार वह विनय कौन करे, किसकी करे, किस विधि से करे, किस अवस्था में करे, कितने बार करे, कितनी अवनतियों से करे, कितने आवर्तों से शुद्ध होकर तथा कितने बार मस्तक पर हाथ लगाकर करे, कितने दोषों से रहित होकर करे इत्यादि बातें समझाई जाती हैं। इसी प्रकार कृति कर्म के विषय में भी किये गये प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। यहाँ पहले विनय कर्म को दिखाते हैं।

जो अष्ट कर्म को नष्ट कर चतुर्गति रूप ससार से मुक्त कर देता है—वह विनय है। ऐसा संसार से पार हुए महापुरुष कहते हैं। सबसे पहले कर्मभूमि की आदि में श्री ऋषभ जिनेन्द्रदेव ने विनय का उपदेश दिया है। इसलिये सदा काल इसका आचरण करना चाहिए। इसके ५ भेद हैं :—

१ लोकानुवृत्ति विनय—आसन देना, हाथ जोड़ना, पाहुन गति करना, सामर्थ्यानुसार अपने उपास्य की पूजा करना, ये सब लोकानुवृत्ति विनय है।

२ अर्थ निमित्त विनय—किसी पुरुष के वचन के अनुकूल बोलना उसके अभिप्राय के अनुसार प्रवर्तना, अपने प्रयोजन के वास्ते हाथ जोड़ना इत्यादि अर्थ निमित्त विनय है।

३ कामतंत्र विनय—काम पुरुषार्थ के वास्ते विनय करना वह कामतंत्र विनय है।

४ भय विनय—भय के कारण विनय करना भय विनय है।

५ मोक्ष विनय का स्वरूप।

दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिओ चेव ।
मोक्खम्हि एसँ विणओ पंचविहो होदि णायव्वो ॥ (मूला० पडाव०)

अर्थ—१ दर्शन विनय, २ ज्ञान विनय, ३ चारित्र विनय, ४ तप विनय और ५ औपचारिका विनय। इस प्रकार मोक्ष-विनय के पाँच भेद हैं।

१ दर्शन विनय—श्री जिनेन्द्रदेव ने श्रुति (आगम) में जो द्रव्य और पर्याय का उपदेश दिया है उस पर खड्ग की धारा के पानी के समान अचल श्रद्धान करना, उसमें २५ दोष नहीं लगाना दर्शन विनय है।

२ ज्ञान विनय—ज्ञानी जीव मोक्ष के स्वरूप को जानता है, ज्ञानी ही पापों छोड़ता है, ज्ञानवान् आत्मा ही नवीन कर्मों का ग्रहण नहीं करता, वही ज्ञान-पूर्वक चारित्र को अंगीकार करता है, अष्टांग सहित ज्ञान का पालन करने वाला भी ज्ञानवान् आत्मा ही है। ज्ञान की महिमा अपार है। संसार में ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है। इसलिए श्रद्धा पूर्वक ज्ञान जरूर प्राप्त करना चाहिए, यह समझ कर यथार्थ ज्ञान को पालना ही ज्ञान विनय है।

३ चारित्र विनय—ज्ञानी पुरुष यत्नाचार सहित प्रवृत्ति करके पुराने कर्मों की धूलि को झड़ा देता है और नवीन कर्मों को नहीं बाँधता, वह चारित्रवान् का आचरण देख कर अपनी चर्या उन सरीखी करता है, चारित्रवानों का विनय करना अपना कर्तव्य समझता है, इस तरह विनय को आत्म कल्याण के लिए आवश्यक समझ कर उसे अपने जीवन में उतारता है, यही चारित्र विनय है।

४ तप विनय—जिसकी तपस्या में दृढ़ बुद्धि रहती है, वह पुरुष तप से कर्म-रूपी अन्धकार को शीघ्र ही हटा देता है और आत्मा को उपसर्ग और परिषहों से दृढ़ कर लेता है, यही समझ कर सत्तपस्वियों की विनय करना और अपनी आत्मा को मोक्ष-मार्ग में स्थापित करना तप विनय कहलाता है। संयमी पुरुष को विनय में कभी नहीं चूकना चाहिए। अल्प श्रुत-ज्ञानी भी विनय से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करता है।

५ उपचार विनय—गुरु आदि का यथा योग्य विनय करना उपचार विनय है।

उपचार विनय के भेद:—

१ धर्म में उत्साही, उद्यमी, पंच महाव्रतों के आचरण में लीन, मान कषाय रहित, निर्जरा का इच्छुक, दीक्षा से लघु हो तब भी उसकी विनय करना चाहिए।

२ आचार्य उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदि का विनय कर्मों की निर्जरा के लिए जरूर करना चाहिए। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि मंत्र तंत्रादि की सिद्धि इसका उद्देश्य नहीं है।

३ संयमी जनों को असंयमियों की वंदना नहीं करना चाहिये, जैसे माता-पिता, आचरण शिथिल दीक्षा गुरु, श्रुतगुरु, राजा, पाखंडी, श्रावक, यक्षादि देव, तथा चारित्र में शिथिल मनुष्य पाँच प्रकार के पार्श्वस्थादि साधु, ये सब संयमियों की वंदना के पात्र नहीं हैं।

४ जो क्रोधादि से मलीन, लोभ से राजा आदि की सेवा करने वाला, जिन-वचन को नहीं जानने वाला, तप में आलसी, शास्त्र ज्ञान से रहित, जिन-सूत्र में दोष देने वाला साधु वन्दना के योग्य नहीं है।

कैसी अवस्था में साधु वंदना के योग्य है ?

वाखित्तपराहुत्त तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि ॥ १०० ॥ (मूला० गा०)

अर्थ—व्याख्यानादि से आकुलित चित्त वाला, पीठ पीछे बैठा हुआ, निद्रा कथादि में लीन, तथा जो भोजनादिक कर रहा हो, या मल-मूत्रादि उत्सर्ग कर रहा हो, ऐसी अवस्था में साधु वन्दने योग्य नहीं है। क्योंकि एकान्त भूमि में पद्मासनादि से बैठे हों, स्वस्थ चित्त और सम्मुख हों तब मैं वन्दना करता हूँ, इस प्रकार संबोधन करके वन्दना करना चाहिये।

आलोचना के समय, प्रश्न के समय, पूजा के समय, स्वाध्याय के समय क्रोधादि अपराध होगया हो उस समय साधु, आचार्य, उपाध्यायादि की वन्दना करे। इस आवश्यक में अब कायोत्सर्ग का विधान बतलाते हैं।

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥ १०३ ॥ (मूला० गा०)

अर्थ—पूर्वाह्ण काल (सवेरे के समय) जो प्रतिक्रमण होता है, उसमें चार कायोत्सर्ग होते हैं। स्वाध्याय काल में तीन कायोत्सर्ग होते हैं। यह प्रातःकाल के सात कायोत्सर्ग हैं। इसी प्रकार सात कायोत्सर्ग सायंकाल के होते हैं। प्रातःकालीन सात कायोत्सर्ग इस तरह हैं:—

प्रतिक्रमण के ४ कायोत्सर्ग

१ कायोत्सर्ग—आलोचना भक्ति पर।
२ कायोत्सर्ग—प्रतिक्रमण भक्ति के समय।
१ कायोत्सर्ग—प्रातः वीर भक्ति के समय।
१ कायोत्सर्ग—चतुर्विंशति तीर्थंकर-भक्ति के समय।
इस प्रकार शान्ति के हेतु ये ४ कायोत्सर्ग हैं।

स्वाध्याय के समय ३ कायोत्सर्ग

१ कायोत्सर्ग—प्रातः श्रुत भक्ति के समय।
१ कायोत्सर्ग—प्रातः आचार्य भक्ति के समय।
१ कायोत्सर्ग—प्रातः श्रुत-भक्ति के समय।

इस प्रकार प्रातः काल के सात और सायंकाल के भी सात, कुल चौदह कायोत्सर्ग करने चाहिए। प्रातः काल सामायिक में बैठते समय थोड़ी रात्रि के रहने पर और शाम को सामायिक से उठने के पश्चात् ये कायोत्सर्ग करने चाहिये। इसी तरह दिन और रात्रि को सब मिलाकर २८ कायोत्सर्ग साधु को करने चाहिए। जिनका खुलासा इस प्रकार है—

सवेरे के स्वाध्याय के पश्चात्, दोपहर के सामायिक के बाद, शाम के सामायिक के बाद, रात्रि के बारह बजे के पश्चात् इन चार समयों में ही तीन तीन कायोत्सर्ग करने से सब मिला कर बारह होते हैं।

प्रातः प्रतिक्रमण के पहिले और पीछे दो-दो तथा शाम के प्रतिक्रमण के पहिले और पीछे दो-दो कायोत्सर्ग। इस प्रकार ८ होते हैं।
त्रिकाल-वंदना में एक-एक कायोत्सर्ग पहिले तथा एक २ कायोत्सर्ग पीछे, इस तरह छह कायोत्सर्ग होते हैं।
योग भक्ति में २ कायोत्सर्ग। इस प्रकार सब मिलाकर दिन रात के २८ कायोत्सर्ग होते हैं।

कृति-कर्म का स्वरूप

दो अवनति (भूमि को छू कर नमस्कार), एक एक दिशा में तीन तीन आवर्त इस तरह चारों दिशा के बारह आवर्त, मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक चार शिरोनति (हाथ जोड़ कर मस्तक पर लगाना), ये सब मद रहित होकर करना चाहिये। कारण पाकर वन्दना के दोषों में से एकाध दोष लग जावे, तव भी साधु निर्जरा का पात्र होता है।

वन्दना के नीचे लिखे ३२ दोष हैं, इन दोषों से मुनि को बचना चाहिए।

१ अनादृत दोष—आदर रहित समस्त क्रिया-कर्म करना, अनादृत दोष है।

२ स्तब्ध दोष—जाति आदि अष्ट मदों के वशीभूत होकर वंदना करना, स्तब्ध दोष है।

३ पीडित दोष—हाथों और घुटनों से गुरू को छू कर वन्दना करना पीडित दोष है।

४ कुंचित दोष—दाढ़ी, मूँछ वा सिर के बालों को मरोड़ना कुंचित दोष है।

५ दोलायित दोष—समस्त शरीर को हिलाते हुआ वन्दना करना दोलायित दोष है।

६ कच्छप-रिंगित दोष—आगे और पीछे से कछुवे की तरह चेष्टा करना कच्छप-रिंगित दोष है।

७ अंकुशित दोष—हाथ के अँगूठे को मस्तक पर लगा कर वन्दना करना अंकुशित दोष है।

८ मत्स्योद्वर्त दोष—मच्छ की तरह पंचपरमेष्ठी के आगे दोनों पार्श्व भागों से वन्दना करना अथवा मच्छ की तरह [illegible] मत्स्योद्वर्त दोष है।

९ वेदिका बद्ध दोष—द्रविड देश के पुरुष की विनती के समान वक्षस्थल पर दोनों हाथ करके तथा दोनों घुटनों को बाँध कर वन्दन करना द्राविड़ी विज्ञप्ति अथवा वेदिका-वंदना नाम का दोष है।

१० आसादना दोष—आचार्यादि पूज्य पुरुषों की विराधना करता हुआ वंदना करे सो आसादना दोष है।

११ विभीत दोष—गुरु आदि के भय से वंदना करना विभीत दोष है।

१२ भय दोष—मरणादि सात भयों से डरते हुए वंदना करना भय दोष है।

१३ ऋद्धि-गौरव दोष—परिवार ऋद्धि से गर्वित होते हुए वंदना करना ऋद्धि गौरव दोष है।

१४ लज्जित दोष—साधर्मी समाज से बाहर होकर यानी लज्जा से कुछ आकुलित हुए वंदना करना लज्जित दोष है।

१५ प्रतिकूल दोष—गुरु के प्रतिकूल होकर वंदना करना प्रतिकूल दोष है।

१६ शब्द दोष—वचनालापादि करते हुए वंदना करना शब्द दोष है।

१७ प्रदुष्ट दोष—किसी के ऊपर क्रोधित रहते हुए उससे मन वचन काय से क्षमा कराये बिना वंदना करना प्रदुष्ट दोष है।

१८ दुष्ट दोष—कोई जानेगा ऐसे वंदना से अँगुली को भ्रमाना दुष्ट दोष है।

१९ हसनोद्घट्टन दोष—हँसते हुए और अङ्ग घिसते हुए वंदना करना हसनोद्घट्टन दोष है।

२० भ्रकुटि कुटिल दोष—भौंह टेढ़ी करके वंदना करना भ्रकुटि कुटिल दोष है।

२१ प्रविष्ट दोष—गुरु आदि के निकट होकर वंदना करना प्रविष्ट दोष है।

२२ दृष्ट दोष—आचार्यादि के आगे तो भले प्रकार वंदना करे, अन्यथा यद्वा तद्वा करे सो दृष्ट दोष है।

२३ संघ-कर-मोचन दोष—संघ से खुश रहने के लिए या संघ से भक्ति आदि की इच्छा से वंदना करना संघ-कर-मोचन दोष है।

अन्तरङ्ग में भावना शुद्ध न होकर ऐसा कार्य करना दोष है।

२४ अदृष्ट दोष—गुरु की आँख छिपा कर वंदना करना अदृष्ट दोष है।

२५ आलब्ध दोष—उपकरण आदि पाकर वन्दना करना आलब्ध दोष है।

२६ अनालब्ध दोष—उपकरणों के पाने की आशा से वंदना करना सो अनालब्ध दोष है।

२७ हीन दोष—असम्पूर्ण विधान से (काल, शब्द, अर्थ इत्यादि से हीन) वंदना करना सो हीन दोष है।

२८ पिधायक दोष—सूत्र के अर्थ को ढाँक कर वंदना करना पिधायक दोष है।

२९ मूक दोष—गूँगे की तरह अतिशय हुंकारादि करते हुए वंदना करना सो मूक दोष है।

३० दर्दुर दोष—दूसरे वंदना करने वालों के शब्दों को अपने कलकल शब्द से ढाँप कर वंदना करना दर्दुर दोष है।

३१ अग्र दोष—गुरु आदि के आगे होकर वंदना करना अग्र दोष है।

३२ चूलिक दोष—एक जगह बैठकर अंजलि को घुमाकर सब वंदनायें कर लेना तथा पंचम आदि स्वर से वंदना करना चूलिक दोष है।

उक्त वत्तीस दोषों से रहित होकर शिक्षा,दीक्षा,वय, तथा श्रुत से संघ में प्रधान गुरुओं की वंदना करना चाहिए। इस वदना की विधि यही है कि एक हाथ दूर से सब प्रकार की बाधा रहित होकर कटि तक शरीर प्रदेश, तथा बैठने की भूमि के प्रदेशों को पिच्छी से प्रमार्जन कर तथा आँखों से देख शोध कर वंदना करे।

प्रतिक्रमण का स्वरूप

प्रमादप्राप्तदोषेभ्यः प्रत्याहृत्य गुणावृतिः।
स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वा कृतदोषविशोधना ॥ (अन० धर्मा० अ० ८ श्लो० ५७की टीका)

अर्थ—प्रमाद-जन्य दोषों (अतिचारों) से अपनी आत्मा को पृथक कर गुणों में स्थापित करना प्रतिक्रमण है। अथवा किये हुये दोषों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के छह भेद

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥११५॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—नाम प्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण, क्षेत्र प्रतिक्रमण, काल प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण इस प्रकार निक्षेप की अपेक्षा प्रतिक्रमण के छह भेद हैं।

१ नाम प्रतिक्रमण—पाप के कारण भूत अतिचारों से शाब्दिक निवृत्ति होना, अथवा प्रतिक्रमण पाठ का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है।

२ स्थापना प्रतिक्रमण—सराग स्थापनाओं से परिणामों का निवृत्त करना अथवा प्रतिक्रमण करने वाले की मूर्ति स्थापित करना स्थापना प्रतिक्रमण है।

३ द्रव्य प्रतिक्रमण—सावद्य द्रव्यों के सेवन करने से परिणामों को हटाना द्रव्य प्रतिक्रमण है। अथवा वर्तमान में प्रतिक्रमण कर्म रहित जो साधु है वह द्रव्य प्रतिक्रमण है। उसके दो भेद हैं (१) आगम द्रव्य प्रतिक्रमण और (२) नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण शास्त्र का ज्ञाता जो वर्तमान में उस शास्त्र के उपयोग से रहित है वह आगम द्रव्य प्रतिक्रमण है। नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमण के तीन भेद हैं। १ ज्ञायक शरीर, २ भावी और ३ तद्व्यतिरिक्त। प्रतिक्रमण शास्त्र के ज्ञाता का जो शरीर है वह ज्ञायक शरीर है। इसके भेद प्रभेद सामायिक के प्रकरण में कह आये हैं वैसे ही यहाँ भी विचार लेना। सामायिक शब्द के स्थान में प्रतिक्रमण लगाकर उसी तरह सब भेद समझ लेना।

४ क्षेत्र प्रतिक्रमण—क्षेत्र के आश्रय से उत्पन्न हुए अतिचारों से निवृत्त होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

५ काल प्रतिक्रमण—काल के आश्रय से लगे दोषों से निवृत्त होना काल प्रतिक्रमण है।

६ भाव प्रतिक्रमण—राग, द्वेष, क्रोधादि से लगे अतिचारों से निवृत्त होना भाव प्रतिक्रमण है।

इसके सात भेद हैं। (१) दिवस संबंधी प्रतिक्रमण को दैवसिक प्रतिक्रमण कहते हैं। (२) रात्रि सम्बन्धी प्रतिक्रमण को रात्रि प्रतिक्रमण कहते हैं। (३) ईर्यां पथ दोष की निवृत्ति के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण किया जाता है। (४) पक्ष में लगे दोषों की निवृत्ति के लिए पाक्षिक प्रतिक्रमण है। (५) इसी तरह चातुर्मासार्थ किया गया चातुर्मासिक तथा (६) संवत्सरार्थ किया गया सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है। (७) चारों प्रकार के आहार का परित्याग करना उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहलाता है। इस तरह प्रतिक्रमण के सात भेद हैं। इस प्रतिक्रमण के तीन अङ्ग हैं। (१) प्रतिक्रामक (२) प्रतिक्रमण (३) और प्रतिक्रमितव्य।

१ प्रतिक्रामक—प्रमादादि से लगे हुए दोषों से निवृत्त होने वाला साधु प्रतिक्रामक है।

२ प्रतिक्रमण—जिस परिणाम से जीव चारित्र में लगे, अतिचारों को हटा कर चारित्र शुद्धि में प्रवृत्त हो, जीव का वह परिणाम प्रतिक्रमण है। अथवा अतिचारों से निवृत्त होने के लिए जिन शब्दों का उच्चारण किया जाय वे शब्द भी प्रतिक्रमण हैं।

३ प्रतिक्रमितव्य—सचित्त, अचित्त, मिश्ररूप त्यागने योग्य भाव, घर आदि क्षेत्र, दिवस मुहूर्त आदि दोष जनक काल, जिस द्रव्य से पापास्रव हो वह द्रव्य इत्यादि सब प्रतिक्रमितव्य (त्यागने योग्य) हैं।

१ मिथ्यात्व, २ असंयम, ३ क्रोधादिकषाय और ४ अशुभयोग का प्रतिक्रमण करना चाहिए, क्योंकि यह सब त्याग करने योग्य हैं। प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक होता है इसलिए अब आलोचना करने की विधि दिखाई जाती है।

सिद्ध-भक्ति, गुरु-भक्ति आदि विनय कर्म करके, शरीर और बैठने के स्थान को नेत्रों से देख कर एवं पिच्छी से शुद्ध करके, विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर निर्मल चित्त वृत्ति धारण करने वाला साधु, ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव तथा जाति आदि के मान को छोड़ कर गुरु से अपने अपराधों का निवेदन करे। गुरु के समीप अपराधों का कहना ही आलोचना है।

इस आलोचना के भी १ दैवसिक, २ रात्रिक, ३ ईर्या पथिक, ४ पाक्षिक, ५ चातुर्मासिक, ६ सांवत्सरिक और ७ उत्तमार्थ—यह सात भेद हैं।

सब लोगों के सामने अथवा अप्रकट रूप में, मन, वचन, काय से किया हुआ जो कुछ पाप कर्म है उस सब को, निराकुल चित्त से गुरु के सामने जैसा का तैसा उसी दिन निवेदन (आलोचना) कर देना चाहिए। आलोचना, आलुंचन, विकृति करण और भावशुद्धि ये सब एकार्थ वाचक शब्द हैं।

गुरु के सामने आलोचना करने से सम्यग्दर्शन की शुद्धि होती है। दोषों के नहीं कहने पर शुद्धि हो और नहीं भी हो। जिस क्रम से अतिचार लगा हो उसी क्रम से अतिचार को कुटिलता रहित होकर गुरु के सामने या अन्य के सामने कह देना चाहिये या स्वयं को ही उस कृत्य की निंदा करना उचित है। परन्तु उसी दिन कर लेना ठीक है, दूसरे, तीसरे दिन पर नहीं टालना चाहिए। पाप कर्म से तो तुरन्त छूटना ही अच्छा होता है।

प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समय में जीव बहुत भोले थे और श्रीमहावीर स्वामी के समय में बहुत वक्र परिणामी होगये, अतः इन दोनों समय में प्रतिक्रमण सहित ही धर्म माना गया है चाहे अपराध लगे या न लगे। बीच के बाईस तीर्थंकरों के समय में जीव चतुर और बुद्धिमान होते हैं, इसलिये वे अपराध करें तब ही प्रतिक्रमण करते हैं, नहीं तो नहीं करते। अर्थात् इन दोनों तीर्थंकरों के तीर्थवर्त्ती जीव अपराध करें या न करें, किन्तु आवश्यक प्रतिक्रमण करते ही हैं।

प्रत्याख्यान आवश्यक

णामादीणं छण्णं अजोग्गपरिवज्जणं तियरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥२७॥ (मूला० मूल०)

अर्थ—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से, वर्तमान कालिक तथा भविष्यत कालिक, नाम स्थापनादि छह प्रकार के भेद रूप दोषों का त्याग करना सो प्रत्याख्यान है। अर्थात्—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इस नव कोटि से आगामी काल एवं वर्तमान काल में लगने वाले दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है। वे दोष नाम स्थापना द्रव्यादि छहों के निमित्त से होते हैं।

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो पच्चक्खाणो णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥१३५॥

पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु ।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालम्हि ॥ १३८ ॥
आणाए जाणणाविय उवजुत्तो मूलमज्झणिद्देसे ।
सागारमणागारं अणुपालेंतो दढधिदीओ ॥१३७॥ (मूला० पडा०)

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से प्रत्याख्यान छह प्रकार का होता है, सो यथायोग्य समझ लेना चाहिये । यहाँ पर १ प्रत्याख्यापक, २ प्रत्याख्यान, ३ प्रत्याख्यातव्य—इनका खुलासा करना भी आवश्यक है । वह इस प्रकार है:—

१ प्रत्याख्यापक जीव—जो भगवान् की आज्ञा से या गुरु के उपदेश से दोषों के स्वरूप को सामान्य विशेष रूप से भली भाँति जानकर उनका प्रत्याख्यान (त्याग) करता है । तथा उसका ग्रहण काल, मध्य काल और समाप्ति काल में दृढ़ता पूर्वक पालन करता है, उस धैर्यवान आत्मा को प्रत्याख्यापक कहते हैं ।

२ प्रत्याख्यान—जिन परिणामों से पदार्थों का त्याग किया जाता है उन्हें प्रत्याख्यान कहते हैं ।

३ प्रत्याख्यातव्य—सावद्य हो अथवा निरवद्य, जिनका तप आदि की सिद्धि के लिये त्याग किया जाता है, उन्हें प्रत्याख्यातव्य कहते हैं । इस प्रत्याख्यान को मूलगुणों व उत्तर गुणों में अनशनादि के भेद से कई प्रकार का कहा है । आगे प्रत्याख्यान के दश भेदों का वर्णन करते हैं :—

अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव ।
सागारमणागारं परिमाणगदं अपरिसेसं ॥१४०॥
अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुगं वियाणाहि ।
पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदम्हि ॥१४१॥ (मूला० पडा०)

अर्थ—१ अनागत, २ अतिक्रान्त, ३ कोटि सहित, ४ निखंडित, ५ साकार, ६ अनाकार, ७ परिमाणगत, ८ अपरिशेष, ९ अध्वगत, १० सहेतुक इस प्रकार प्रत्याख्यान के १० भेद हैं । इनका खुलासा इस तरह है ।

१ अनागतप्रत्याख्यान—भविष्यतकाल के उपवासादि को पहले ही कर लेना, उदाहरणार्थ—चतुर्दशी आदि के दिन जो व्रत उपवासादि करने चाहिये, उन्हें त्रयोदशी आदि में ही कर लेना यह अनागत प्रत्याख्यान है ।

२ अतिकान्त प्रत्याख्यान—भूत काल सम्बन्धी उपवासादि करना, जैसे चतुर्दशी आदि के दिन जो व्रतादि करने चाहिये थे उन्हें पूर्णमासी या प्रतिपदादि के दिन करना अतिकान्त प्रत्याख्यान है ।

३ कोटि सहित प्रत्याख्यान—शर्त सहित शक्ति की अपेक्षा से उपवासादि करने का संकल्प करना, जैसे कल शास्त्र-स्वाध्याय के समय के बाद यदि शक्ति होगी तो मैं उपवासादि करूँगा अन्यथा नहीं करूँगा इत्यादि संकल्प सहित त्याग करना कोटि सहित प्रत्याख्यान है ।

४ निखंडित प्रत्याख्यान—अवश्य करने योग्य उपवासादि का करना अर्थात् पक्ष सम्बन्धी, मास सम्बन्धी अवश्य कर्तव्य उपवासादि का करना निखंडित प्रत्याख्यान है।

५ साकार प्रत्याख्यान—सर्वतोभद्र, कनकावली इत्यादि व्रतों के उपवासादि को नक्षत्रादि के भेद पूर्वक करना साकार प्रत्याख्यान है।

६ अनाकार प्रत्याख्यान—अपनी इच्छानुसार नक्षत्रादि के भेद बिना ही उपवासादि विधि को करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७ परिमाण गत प्रत्याख्यान—दो दिन, तीन दिन, अर्ध पक्ष, एक पक्ष, एक मास इत्यादि काल वगैरह के परिमाण से उपवासादि करना परिमाण गत प्रत्याख्यान है।

८ अपरिशेष प्रत्याख्यान—यावज्जीव (मरण पर्यंत) चार प्रकार के आहार का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

९ अध्वगत प्रत्याख्यान—अध्व यानी मार्ग से जाते हुए देश, जंगल, नदी इत्यादि से निकलने की अवधि से उपवासादि करना अध्वगत प्रत्याख्यान है।

१० सहेतुक प्रत्याख्यान—उपसर्गादि हेतुओं के कारण उपवासादि क्रिया करना वह सहेतुक प्रत्याख्यान है। इस प्रकार जिनागम में प्रत्याख्यान आवश्यक के दश भेद कहे हैं, सो जानना चाहिये।

आगे और भी प्रत्याख्यान के भेद दिखाते हैं—

१ तप विनय, औपचारिक विनय, ज्ञान विनय, दर्शन विनय और चारित्र विनय इन पाँच प्रकार के विनय सहित प्रत्याख्यान करना विनय शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२ गुरु जैसा कहे उसी तरह प्रत्याख्यान के अक्षर, पद, व्यञ्जनों का उच्चारण करना, अक्षरादि क्रम से ह्रस्व, दीर्घ आदि शुद्ध रूप से उच्चारण करना, न अत्यन्त धीरे और न अत्यन्त उच्च स्वर से बोलना अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

३ ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान को रोग में, वियोग मे उपसर्ग मे, भिक्षा प्राप्ति के अभाव में तथा भयानक वन में भंग न करना उसका ज्यों का त्यों पालन करना, अनुपालन विशुद्ध नाम का प्रत्याख्यान कहते हैं।

४ राग-द्वेष रूप मन के परिणामों से जो प्रत्याख्यान दूषित न हो वह शुद्ध प्रत्याख्यान है।

कायोत्सर्ग आवश्यक

कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं।

देवसियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतनजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो ॥२८॥ (मूला० मूल०)

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान के गुण चिन्तन सहित यथोक्त काल में यथोक्त परिमाण से दैवसिकादि नियमों के पालन करने में, शरीर से ममत्व बुद्धि का त्याग करना कायोत्सर्ग है, इसी का दूसरा नाम व्युत्सर्ग भी है।

कायोत्सर्ग करने वाले में निम्न लिखित गुण होने चाहिये।

मोक्षार्थीजितनिद्रकः सुकरणः सूत्रार्थविद्वीर्यवान्,
शुद्धात्मा बलवान् प्रलम्बितभुजायुग्मो यदास्तेऽचलम्।
ऊर्ध्वंज्ञुश्चतुरंगुलान्तरसमाग्रांघ्रिर्निषिद्धाभिधा,—
आचारात्ययशोधनादिह तनूत्सर्गः स षोढा मतः ॥७०॥ (अन० ध० अ० ८)

अर्थ—मोक्ष का इच्छुक, निद्रा का जीतने वाला, उत्तम क्रिया करने वाला, शास्त्र के अर्थ का ज्ञाता, स्वाभाविक तथा आहारादि जन्य शक्ति सम्पन्न, शुद्धात्मा, प्रलम्बित हैं दोनों भुजा जिसकी ऐसा अचल स्थित रहने वाला, चार अंगुल अन्तर से पाँवों को रखके खड़ा हुआ योगी सावद्य नामोच्चारण जन्य दोष, पाप जनक स्थापना द्वारा आये हुए दोष, सावद्य द्रव्य सेवन करने से उत्पन्न हुए दोष इसी प्रकार भावादि जन्य दोषों की विशुद्धि के लिये जो काय से ममत्व का त्याग करता है वह कायोत्सर्ग कहलाता है।

यह कायोत्सर्ग नामादि निक्षेप के भेद से छह प्रकार का है। निक्षेपों का स्वरूप पहले बता चुके हैं, उसके अनुसार यथायोग्य विचार लेना चाहिये।

अब कायोत्सर्ग की विशेष व्याख्या करते हैं।

काउस्सग्गो काउस्सग्गी काउस्सग्गस्स कारणं चेव।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥१५२॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—शरीर का चपलता रहित होना कायोत्सर्ग है। यहाँ कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग करने वाला (कायोत्सर्गी) और कायोत्सर्ग के कारण इन तीनों का स्वरूप बताते हैं।

वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥१५३॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—दोनों भुजाओं को नीचे लटकाये हुए चार अंगुल के अंतर (फासले) पर दोनों पैरों को सीधा करके सम्पूर्ण शरीर को हलन चलन रहित करके खड़ा रहना कायोत्सर्ग कहा जाता है।

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा ॥१५४॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—जो जीव मोक्षार्थी है, जिसने निद्रा को जीत लिया है, सूत्र और अर्थ में निपुण है, परिणामों से शुद्ध है, शारीरिक बल तथा आत्म बल से संयुक्त है ऐसे विशुद्धात्मा को कायोत्सर्गी जानना चाहिये।

कायोत्सर्ग करने का सकारण संकल्प

काउस्सगं मोक्खपहदेसयं घादिकम्म अदिचारं।
इच्छामि अहिट्ठादुं जिणसेविद देसिदत्तादो ॥१५५॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—यह कायोत्सर्ग सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग का उपकारी है और घातिया कर्मों का नाशक है, इसका जिनेन्द्र देव ने सेवन किया है और दूसरों को उपदेश दिया है, इसलिये मैं भी इसको स्वयं स्वीकार करना चाहता हूँ।

कायोत्सर्ग के कारण दिखाते हैं:—

एक पाँव से खडे रहने पर, राग-द्वेष के निमित्त से जो दोष हुआ हो, चार कषायों से गुप्तियों का उल्लंघन किया हो, व्रतों में अतिचार लगा हो, अथवा छह काय के जीवों की विराधना करने से या सात भय व अष्ट मदों के द्वारा जो कर्म उत्पन्न हुआ हो, ब्रह्मचर्य में जो अतिचार लगा हो, उन सब के नाश के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यदि एक पाँव से खड़े रहने पर भी पाप होता है तो फिर चलने-फिरने के पाप का क्या कहना इत्यादि रूप से पाप का नाश करने के लिये विचार कर मुनि लोग कायोत्सर्ग करते हैं।

आगे मुनि ऐसा निश्चय करके कायोत्सर्ग करते हैं कि मनुष्य, देव, तिर्यञ्च एव अचेतन द्वारा जो उपसर्ग होंगे, उन सबको कायोत्सर्ग में स्थित हुआ मैं अच्छी तरह सहन करूँगा, यह दिखलाते हैं।

कायोत्सर्ग का प्रमाण

कायोत्सर्ग की उत्कृष्ट स्थिति १ वर्ष तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। शेष कायोत्सर्ग रात्रि-दिन इत्यादि के भेद से अनेक प्रकार के हैं।

अब दैवसिक आदि प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का प्रमाण दिखाते हैं—

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण ॥१६०॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—(१) दैवसिक प्रतिक्रमण में एकसौ आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।
(२) रात्रि के प्रतिक्रमण में चौपन श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।
(३) पाक्षिक प्रतिक्रमण में तीनसौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।

(४) चातुर्मासिक के प्रतिक्रमण में चारसौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।

(५) बारह मास के प्रतिक्रमण में पाँचसौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।

(६) हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह के प्रत्येक अतिचार में एकसौ आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।

(७) गोचरी से आने के बाद या एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाने के बाद, अरहन्त शय्या (निर्वाणादि कल्याण की भूमि) एवं साधु के निषद्या स्थान में जाकर आने के बाद तथा दीर्घ शंका, लघुशंका, इन क्रियाओं के करने के बाद प्रत्येक में पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।

(८) ग्रन्थादि के प्रारम्भ में, समाप्ति में, स्वाध्याय में, वंदना में, अशुभ परिणाम होने पर प्रत्येक मास में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये।

मोक्षमार्ग में स्थित एवं शरीर से ममत्व छोड़ने वाला मुनि ईर्यापथ के अतिचार को शोधने के लिये, दुःख के क्षय करने के लिये, भक्त-प्रत्याख्यान, ग्रामान्तर, चातुर्मासिक, धार्मिक, उत्तमार्थ—इनको अच्छी तरह जान कर धैर्य-पूर्वक कायोत्सर्ग में स्थित होवे।

इस प्रकार कायोत्सर्ग में स्थित हुए मुनीश्वर ईर्यापथ के अतिचार के विनाश का विचार करें और जब उन्हें सम्पूर्ण समाप्त कर चुकें तब धर्मध्यान एवं शुक्ल-ध्यान का चिन्तन करें। जो तीस वर्ष की युवावस्था वाला पुरुष सत्तर वर्ष के बूढ़े के साथ कायोत्सर्ग करके उसकी बराबरी करना चाहता है, वह यथार्थ मुनि नहीं है, किन्तु मानी, चारित्र रहित मायाचारी है।

आसन की अपेक्षा से और भी कायोत्सर्ग के भेद कहते हैं—

उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव।
उवविट्ठणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो ॥१७६॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—(१) उत्थितोत्थित, (२) उत्थितनिविष्ट, (३) उपविष्टोत्थित, (४) उपविष्टनिविष्ट—इस तरह कायोत्सर्ग के चार भेद हैं।

(१) उत्थितोत्थित—कायोत्सर्ग करके खड़ा हुआ मुनि जब धर्म और शुक्ल दोनों ध्यानों को ध्याता है, तथा शरीर और परिणामों से खड़ा रहता है, तब वह उत्थितोत्थित नामा कायोत्सर्ग कहलाता है।

(२) उत्थितनिविष्ट—जब कायोत्सर्ग में खड़ा हुआ मुनि आर्त्त तथा रौद्र ध्यानमय चिन्तना करने लगता है, वह उत्थितनिविष्ट नामा कायोत्सर्ग है।

(३) उपविष्टोत्थित—जब बैठा हुआ मुनि धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है, तब उस कायोत्सर्ग का नाम आगम में उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग कहा गया है।

(४) उपविष्टनिविष्ट—जब पल्यंकासन से बैठा हुआ मुनि आर्त-रौद्र ध्यान को ध्याता है, तब उस कायोत्सर्ग का नाम उपविष्टनिविष्ट कायोत्सर्ग है।

अब यह बतलाते हैं कि कायोत्सर्ग में मुनि को निम्नोक्त शुभ-संकल्प करना चाहिये :—

दर्शन, ज्ञान और चरित्र के स्वरूप विचार मे मन को स्थिर करना। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में चित्तवृत्ति लगाना, संयम में परिणाम रखना, प्रत्याख्यान के ग्रहण करने में परिणाम रखना, षडावश्यकादि क्रियाओं में परिणाम लगाना, समिति में उपयोग रखना, द्वादशांग चतुर्दशपूर्व रूप विद्या में उपयोग जमाना, महाव्रत व समाधि और गुणों मे परिणाम रखना, ब्रह्मचर्य और छहकाय के जीवों की रक्षा में उपयोग रमाना, क्षमा में चित्त वृत्ति लगाना, इन्द्रिय निग्रह में अभिलाषा रखना, मार्दव और आर्जव धर्म में परिणाम रखना, समस्त परिग्रह के त्याग रूप मुक्ति, तथा विनय और श्रद्धा में मन को स्थिर करना चाहिये। इन परिणामों से कर्मों का क्षय होता है। और ये ही परिणाम आत्मा को कर्म बन्ध से मुक्त कराने में मुख्य कारण हैं। इनका सतत चिन्तन करना ही आत्मा के कल्याण का निष्कण्टक मार्ग है। ऐसा समझ कर इनका सदा स्मरण करना चाहिए। और इनसे विपरीत अशुभ संकल्पों को अशुभ ध्यान समझ कर त्याग देना चाहिये।

पुत्र व शिष्यादि के लिये, हाथी, घोडे, आदि वाहनों के लिये, आदर सत्कार व प्रशंसा के लिये, भोजन पाने के लिये, खुदे हुए पर्वत की दराड़, गुफा आदि जगह के लिये, शयन, आसन, भक्ति एवं दश प्राणों की रक्षा के लिये, मैथुनेच्छा, आज्ञा निर्देश, प्रामाणिकता, कीर्तिवर्णन, आत्म-प्रशंसा तथा अपने गुणों की ख्याति के लिये यदि कायोत्सर्ग किया जावे तो, वह अशुभ अर्थात् हेय संकल्प माना गया है, यह अशुभध्यान है। इससे आत्मा को कोई लाभ नहीं है।

अब कायोत्सर्ग में टालने योग्य बत्तीस दोषों को बताते हैं ।।

१ कायोत्सर्ग में घोड़े की तरह एक पांव उठाकर अथवा झुककर खड़े रहना घोटक दोष है।
२ पवन से हिलती हुई लता के समान हिलना लता दोष है।
३ स्तम्भ (खंभा), भींत आदि का सहारा लेना अथवा स्तम्भ के समान हृदय रहना स्तंभ कुड्य दोष है।
४ पट्टे आदि के ऊपर खडे होकर कायोत्सर्ग करना सो पट्टिका दोष है।
५ शिर के ऊपर लटकती हुई माला या रस्सी आदि का मस्तक द्वारा सहारा लेकर ठहरना सो माला दोष है।
६ बेड़ी से बँधे हुए पुरुष की तरह टेढ़े चरण धर कर ठहरना सो निगड़ दोष है।
७ भील की स्त्री की तरह हाथ से जघा को दबा कर अथवा गुप्त अंग को हाथों से ढक कर खड़ा रहना किरात युवति दोष है।
८ शिर को नमाकर ठहरना शिरोनमन दोष है।
९ ऊँचा सिर करके ठहरना उन्नमन दोष है।
१० बालक की धाय के स्तन के समान छाती को ऊँची करके ठहरना धात्री दोष है।
११ कौवे की तरह चंचल नेत्र से चारों ओर पसवाड़ों को देखना वायस दोष है।
१२ लगाम से पीडित घोड़े की तरह ऊपर नीचे मस्तक का नमावना खलीन दोष है।
१३ जिसके कंधे पर पुरुष चढ़ा है ऐसे हाथी के समान गर्दन का नमावना या ऊँचा करना सो गज दोष है। इसी का नाम युगदोष भी है।

१४ कैथ सहित हाथ की तरह मूठी बंधन करना कपित्थ दोष है।

१५ सिर का कंपावना सो शिरःकंपित दोष है।

१६ गूंगे की तरह नासिकादि अङ्ग से संकेत करना मूक दोष है।

१७ कायोत्सर्ग में अंगुली गिनना सो अंगुली दोष है।

१८ कायोत्सर्ग में भृकुटी नचाना आदि भ्रू दोष है।

१९ मदिरा से आकुलित पुरुष के समान घूमना दिरापाथि दोष है।

२० कायोत्सर्ग मे दशों दिशाओं की ओर देखना दिगवेक्षण दोष है।

२१ गर्दन को बहुत ऊपर करना ग्रीवोर्द्ध्वनयन दोष है।

२२ गर्दन को नीची करना इत्यादि ग्रीवाधोनयनादि दोष है।

२३ खकारना, थूकना निष्ठीवन दोष है।

२४ अंग का स्पर्शन करना वपुस्पर्शन दोष है।

२५ माया से प्रपंच सहित स्थित रहना प्रपचबहुल दोष है।

२६ सूत्र-भाषित विधि की हीनता करना विधि-न्यून दोष है।

२७ वृद्धादि वय की अपेक्षादि का त्यागना वयोपेक्षादि-वर्जन दोष है।

२८ काल की अपेक्षा का उल्लंघन कर कायोत्सर्ग करना काल व्यतिक्रांत दोष है।

२९ चित्त की व्याक्षिप्तता के कारणों में आसक्त चित्तपना आक्षेप-सक्त-चित्तता दोष है।

३० लोभ से चित्त को आकुलित करना लोभाकुलित दोष है।

३१ कायोत्सर्ग करते हुए पाप कार्य में उत्सुकता रखना पाप-कार्योद्यम दोष है।

३२ करने योग्य और न करने योग्य कार्यों में मूढपना रखना मूढ दोष है।

इस प्रकार ये कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष साधुओं को त्यागने योग्य हैं।

षट् आवश्यक चूलिका

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ॥१८७॥ (मूला० षडा०)

अर्थ—सम्पूर्ण आवश्यकों को शुद्ध रूप से पालने वाला साधु नियम से सिद्ध होता है। जो सब आवश्यकों को नहीं कर सके तो नियम से वह साधु स्वर्गादि आवास को प्राप्त होता है।

जिसने मन, वचन, काय से अपनी इन्द्रियाँ वश में करली हैं ऐसे साधु के ही परमार्थ से परिपूर्ण आवश्यक होते हैं। अन्यथा किये हुए आवश्यक कर्मागमन के कारण होते हैं। इसलिये मन, वचन, काय से सर्वथा शुद्ध होकर यथोक्त क्षेत्र, काल में मौन पूर्वक निराकुल हुआ साधु नित्य ही आवश्यकों को पालन करे।

इति षडावश्यक वर्णनम् ॥

केशलोच

केशलोच २२वाँ मूलगुण है। यह लोच कब करना चाहिए, किस विधि से करना चाहिए, इस विषय में मूलाचार में लिखा है :—

बिय-तिय-चउक्क मासे लोचो उक्कस्स-मज्झिम-जहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥२९॥ (मूला० मूल०)

दो महीने में केशलोच करना उत्तम है। तीन महीने में करना मध्यम है और चार महीने में करना जघन्य है। भाव यह है कि पूरे दो महीने बाद या दो महीने के भीतर पुनः केशलोच कर लेना उत्तम है। पूरे तीन महीने बाद या तीन महीने में कुछ दिन कम रहने पर कर लेना मध्यम है और पूरे चार महीने में या कुछ दिन कम चार महीने में करना जघन्य है। केशलोच के लिए इससे अधिक समय नहीं बढ़ाया जा सकता।

प्रश्न—लोच के दिन विशेष क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—लोच करके प्रतिक्रमण करना आवश्यक है और उपवास (भोजन का त्याग) भी।

प्रश्न—यदि केशों का लोच न किया जाय, उन्हें बढ़ने ही दिया जाय तो क्या हानि है ? उन्हे दो, तीन या अधिक से अधिक चार महीनों में उपाड़ देना क्यों जरूरी बताया गया है ?

उत्तर—यदि केशों का लोच न किया जाय और वे बढ़ते ही रहें तो उनमें सम्मूर्च्छन जीवों का उत्पन्न होना सम्भव है। उनके अधिक रहने से उनमें रागादि भाव भी पैदा हो सकते हैं। इसलिए उनको बढ़ाना ठीक नहीं। एक बात यह भी है कि इस तरह हाथों से केशलोच करने से मुनि की आत्मीय शक्ति—सहा धीरता, वीरता का परिचय भी मिलता है और यह एक प्रकार का तप भी है। क्योंकि इससे काय-क्लेश पर विजय होता है। इसके अतिरिक्त इससे जैन लिंग का गुण भी प्रकट होता है। * निर्ममत्व और धर्म में दृढ़ता विदित होती है।

---

* जीवसम्मूर्च्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं च हस्तेन लोचः।

(—गार टीका)

प्रश्न—केशलोच हाथों से ही क्यों किया जाता है? इसके लिए उस्तरे, कैंची आदि का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? क्योंकि 'केश-लोच' में दो शब्द हैं—केश और लोच। केश का अर्थ है 'बाल' और 'लोच' का अर्थ है हटाना। क्योंकि संस्कृत में लोच शब्द 'लुंचु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है हटाना और यह-बालों को हटाने या अलग करने का कार्य तो उस्तरा आदि अन्य साधनों से भी हो सकता है।×

उत्तर—जैन मुनि अपने माथे और दाढ़ी-मूँछ के केशों को अपने या दूसरे के हाथ से ही उपाड़ते हैं, इसके लिए वे उस्तरे, कैंची आदि का प्रयोग नहीं कर सकते। क्योंकि यदि वे उस्तरे, आदि को अपने पास में रखने लगें तो परिग्रह कहलायगा, जिसके कि वे पूर्णतः त्यागी होते हैं। किसी से माँग कर उनका उपयोग करेंगे तो याचना का दोष आवेगा और याचना के साथ दीनता तो लगी हुई है ही। और यह बात भी है कि यदि माँगने पर भी कोई न दे तो इससे मुनि का तिरस्कार भी सम्भव है। तथा साधु की वृत्ति अति उत्तम है वह किसी के आगे शिर क्यों झुकावें। अतः इन सब दोषों से बचने के लिए केशोत्पाटन के गुणों को ध्यान में रखते हुए वह अपने हाथ से ही केशलोच करता है।⊕

प्रश्न—सभी स्थानों के केशों को उपाड़ना चाहिए या इसके विषय में भी कोई विशेष नियम है?

उत्तर—मस्तक, दाढ़ी, मूछों के केशों को ही उपाड़ना चाहिए। गुह्येन्द्रिय तथा काँख के केशों को नहीं उपाड़ना चाहिए। इसके विषय में नीतिसार में लिखा है—

> अचेलत्वं शिरःकूर्चलोचोऽधः केशधारणम्।
> निराभरणाविच्छिन्नदेहता पिच्छधारणम् ॥७५॥

भाव यह है कि मुनि नग्न, आभरण रहित, पूर्ण देहवाला हो। पिच्छी धारण करे। शिर, दाढ़ी-मूंछों के बालों का लोच करे और नीचे के केश रखे।

उक्त कथन से यह सिद्ध है कि सब स्थानों के केशों का लोच मुनि के लिए निषिद्ध है।

प्रश्न—क्या लोच के दिन उपवास और प्रतिक्रमण करना जरूरी है?

उत्तर—लोच के दिन उपवास करना जरूरी है। पहले दिन भोजन करने के पश्चात् प्रत्याख्यान करे कि मेरे सोलह पहर तक भोजन का त्याग है। तब उसी समय से उपवास शुरू हो जाता है और प्रतिक्रमण पूर्ण होने तक रहता है। इसी अहोरात्र के बीच में केशलोच करना चाहिए। अष्टमी, चतुर्दशी, रात्रिक, दैनिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के दिन उपवास होवे तो उस दिन भी केशलोच किया जा सकता है। भाव यह है कि केशलोच के दिन उपवास करना जरूरी है। प्रतिक्रमण के दिन उपवास किया जाता है, इसलिए वह दिन भी लोच के लिए उपयुक्त हो सकता है। अन्यथा जिस किसी दिन लोच किया जाय उस दिन चतुर्विध आहार का त्याग करना चाहिए और सिद्ध भक्ति करनी चाहिए।

× लुंचृ धातुरपनयने वर्तते, तच्चापनयनं क्षुरादिनापि सम्भवति, तत्किमर्थमुत्पाटनं मस्तके केशानां श्मश्रूणां चेति चेत्? (मूलाचार टीका)
⊕ नैष दोषः, दैन्यवृत्ति-याचन-परिग्रह-परिभवादिदोषपरित्यागादित्यर्थः। (मूलाचार टीका)

प्रश्न—चतुर्विध आहार का त्याग करने से ही उपवास होता है या उपवास का और भी कोई तरीका है।

उत्तर—उपवास का उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि चतुर्विध आहार का त्याग किया जाय। प्रायश्चित्त शास्त्र आदि में उपवास का अपवाद मार्ग भी बताया गया है, जिसको हम आगे लिख देते हैं, पर यह मार्ग असमर्थों के लिए है। कर्म निमित्त से जिस संयमी के उपवास की शक्ति न हो, वही उसे अपनावे। सब अनुकूलता होते हुए भी अगर कोई उपवास (चतुर्विध आहार का त्याग) न करे तो वह द्वितीय उपवास के दण्ड का भागी है।

उपवास के विषय में अपवाद रूप अनेक कथन हैं। प्रायश्चित्त समुच्चय में लिखा है—

कायोत्सर्गप्रमाणाय नमस्कारा नवोदिताः।
उपवासस्तनूत्सर्गैर्भवेद्द्वादशकैस्तकैः ॥ ११ ॥

नो पंचनमस्कारों का एक कायोत्सर्ग होता है और बारह कायोत्सर्गों का एक उपवास होता है।

छेदपिंड नाम ग्रन्थ में भी ऐसा ही लिखा है—

णव पंच णमोक्कारा काउसग्गम्मि होंति एगम्मि।
एदेहिं वारसेहिं उववासो जायदे एक्को ॥ १० ॥

भाव—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं—यह एक पंच नमस्कार है। कायोत्सर्ग में ऐसे नो पंच नमस्कार होते हैं और बारह कायोत्सर्गों का एक उपवास होता है।

संयमी की शक्ति और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विचार से यह अपवाद मार्ग बताया गया है। क्योंकि जिन मत स्याद्वाद रूप है। न तो उत्सर्ग मार्ग ही एकान्त से है और न अपवाद पर ही संघ को उतर आने की आवश्यकता है। समय को देख कर शक्ति का प्रयोग कार्यकारी होता है, यह ध्यान में रखने की बात है।

प्रश्न—जब केशलोच एक महान तप है और इससे साधु की निर्ममता एवं धर्म में दृढ़ता प्रकट होती है तो इसे प्रभावक बनाने के लिए लोगों को इकट्ठा करने में क्या दूषण है ?

उत्तर—मुनि की किसी तपश्चर्या का प्रभाव दूसरों पर पड़े इसमें कोई दोष नहीं है। केवल केशलोच के लिए दिन निश्चित करके लोगों को पत्रियों द्वारा बुलाना या इसके आयोजन में योग देना मुनि के लिए योग्य क्रिया नहीं है।

प्रश्न—लोगों को इकट्ठा तो श्रावक लोग करते हैं, इसमें मुनियों को क्या दोष आता है ?

उत्तर—जब मुनि निश्चित दिन बता देते हैं तभी श्रावक लोग जगह-जगह उसकी सूचना देते हैं और इसीलिए सभा-मंडप बनाने, मोटर-गाड़ी से लोगों के आने-जाने एवं उनके रसोई आदि के प्रबन्ध में त्रस-स्थावर हिंसा होती है। इसका भार पहले से सूचना देने वाले साधु पर

भी है और इस स्थिति में उसके नख कोंद से अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? और जब अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं होता, तब साधुपन कैसे रह सकता है ? इसलिए पहले से कट कर लोच करना कदापि उचित नहीं। यह अहिंसा-धर्म और मुनिमार्ग के प्रतिकूल है। लोच की सूचना आचार्य के अतिरिक्त अन्य साधुओं को भी होने की आवश्यकता नहीं है। तभी नवकोटि अहिंसा पल सकती है। ढोंग धर्म मार्ग नहीं है।

वस्त्र-त्याग या आचेलक्य मूलगुण

मुनियों का तेईसवाँ मूलगुण वस्त्र-त्याग या आचेलक्य है। मुनि पूर्णतया निर्ग्रन्थ होते हैं। यदि तिलतुष मात्र परिग्रह का भी उनके ससर्ग हो तो वे दिगम्बर-जैन-मुनि नहीं कहलावेंगे। इसलिए परिग्रह-त्याग-महाव्रत नामक पाँचवें मूलगुण के रहने पर भी वस्त्रत्याग नामक पृथक् मूलगुण की आवश्यकता हुई है।

नग्नता दिगम्बर-जैन-मुनि का आत्मभूत लक्षण है। यदि अकेला यह मूलगुण न हो तो अवशिष्ट २७ मूलगुणों के रहने पर भी मुनित्व नष्ट होजाता है। पूरी निर्ग्रन्थता मुनि में इसी मूलगुण के रहने से आती है। परिग्रह-त्याग महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलाता है जब इस वस्त्रत्याग-मूलगुण का पूर्णतः पालन हो। नहीं तो अन्यान्य सब परिग्रह छोड़देने पर भी पञ्चम गुणस्थान ही कहलावेगा।

नग्नता के सम्बन्ध में निरपेक्ष होकर विचार किया जावे तो प्रत्येक विचारक को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह प्राणी की वास्तविक अवस्था है। मनुष्य में जब विकार आता है तभी वह उसे दबाने के लिए वस्त्र ग्रहण करता है। मनुष्य के अतिरिक्त सारे संसार के पशु पक्षी अपने अपने यथाजात रूप में रहते हैं। मनुष्य भी यदि विवेक पूर्वक अपने यथाजात रूप में रहने लगे तो कहना होगा कि उसने अपने अशेष विकारों पर विजय प्राप्त करली है। मनुष्य भी अन्यान्य प्राणियों की तरह नग्न ही उत्पन्न होता है। यह नग्नता मनुष्य में—उसकी शैशवावस्था में—तब तक आभूषण बनी रहती है, जब तक उसमें विकार उत्पन्न नहीं होता। बच्चे और मुनि में इतना ही भेद है कि एक में विकार उत्पन्न नहीं हुआ और दूसरे ने उत्पन्न विकारों को जीत लिया।

कुछ लोग नग्नता को अवांछनीय एवं असामाजिक समझते हैं, किन्तु यह मनुष्य की नैतिक दुर्बलता है। वे समझते हैं कि नग्नता दूसरों के हृदय में विकार उत्पन्न करती है, पर उनका ऐसा खयाल करना सर्वथा मिथ्या है। यह दलील स्वयं उनके हृदय की कमजोरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि वस्तुतः किसी की नग्नता दूसरे के हृदय में विकार उत्पन्न करती है तो हम पूछते हैं कि बच्चे एवं पशु पक्षियों की नग्नता किसी के हृदय में क्यों विकार उत्पन्न करती है ? सच तो यह है कि जिनके मानस में स्वयं विकार एवं वासना है उन्हीं को देख कर दूसरों के चित्त में विकृति होसकती है। किसी के काम विजयी होने का तभी पता लग सकता है जब कि वह मनुष्य समाज के बीच नग्न होकर विचरण करे। जो वस्त्रों द्वारा अपनी काम प्रेरणा को छिपाना चाहते हैं उन्हें काम विजेता कभी नहीं कहा जा सकता।

अविकृत नग्नता का एक बहुत अच्छा उदारण हमें श्रीमद्भागवत में मिलता है :—एक समय व्यास के पुत्र नग्न शुकदेव एक नदी के पास से निकले। उस नदी के तट पर कुछ युवति-स्त्रियाँ स्नान कर रही थीं। किन्तु युवा शुकदेव को देखकर किसी भी स्त्री ने लज्जा न की और न अपने

शरीर को ही ढँका। थोड़ी देर पीछे उसी स्थान से उनके पिता वेदान्त-दर्शन के प्रणेता व्यासदेव भी निकले, पर उन्हें देखते ही सब स्त्रियों ने लज्जाभिभूत होकर अपने २ शरीर को ढक लिया। इसका कारण क्या था? यही कि नग्न होने पर भी शुकदेव अविकृत थे। स्त्रियों ने अनुभव किया कि अविकारी से लज्जा करने का कोई कारण नहीं है। सवस्त्र और वृद्ध व्यासदेव से लज्जा करना, किन्तु नग्न और युवा शुकदेव से थोड़ी भी लज्जा नहीं करना यह बतलाता है कि अविकृत नग्नता किसी को तंग करने वाली चीज नहीं है।

नग्नता को उत्कृष्ट अवस्था समझ कर कई वर्ष पहले जर्मनी की एक सामाजिक संस्था ने भी इसका परीक्षण किया था और वह संस्था उसमें काफी सफल हुई थी। उस संस्था के अधिकांश सदस्य नग्न रहते थे। यह संस्था सारे मानव समाज में नग्नता का प्रचार करना चाहती थी। पर यह उस संस्था का अतिवाद था। क्योंकि गृहस्थों में नग्नता को व्यवहार की चीज बनाने में अनेक प्रकार की बाधाएँ हैं। जब तक काम-वासना शांत न हो तब तक नग्नता को सफलता के साथ अपने जीवन मे उतारना अव्यवहार्य है। किन्तु जैनधर्म मे जो मुनियों को नग्न बनाने का विधान है वह बड़ा ही सुन्दर और व्यवहार्य है।

आचेलक्य का लक्षण करते हुए 'मूलाचार' में लिखा है कि—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जम् ॥३०॥ (मूला० मूल०)

वस्त्र—ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्र, अजिन—मृग, व्याघ्र आदि के शरीर का चमड़ा, वक्कल—वृक्षादि की त्वचा और उसके बनाये हुए टाट आदि से, पत्ते व घास आदि से शरीर को आच्छादित नहीं करना एवं रत्न सुवर्णादि के आभूषण तथा चंदन, कपूर आदि का सर्वथा संयोग न करना आचेलक्य नामा जगत्पूज्य मूलगुण है।

इसी का समर्थन करते हुए भगवान कुंदकुंद स्वामी ने अपने 'सूत्र पाहुड' में लिखा है—

जहजायरूवसरिसो, तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पवहुयं, तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥ १८ ॥

अर्थ—दिगम्बर मुनि जन्मते बालक की भांति यथाजात रूप अर्थात् नग्न होते हैं। वे अपने हाथ ही में भोजन करते हैं। उनके तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि कोई थोड़ी बहुत भी वस्तु को ग्रहण कर लेता है—तो वह निगोद में जाता है।

इसी तरह दिगम्बर जैन शास्त्रों में आचेलक्य का स्वरूप वर्णित है। यहाँ पर अब यह बताते हैं कि दिगम्बर जैन सिद्धान्त की तरह ही भिन्न २ सम्प्रदाय वालों ने भी दिगम्बरत्व को आदर्श माना है। सर्व प्रथम श्वेताम्बर जैन संप्रदाय के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

श्वेताम्बर मतानुसार साधुओं के जिनकल्प और स्थविर कल्प ये दो भेद हैं। उनमे से जिनकल्प नग्न और स्थविर कल्प सवस्त्र होते हैं। काल दोष से जिनकल्प का व्युच्छेद हो गया और उस पद को अब धारण नहीं किया जा सकता। जैसा कि उनके लिखा है—

"संयमो जिन-कल्पस्य दुःसाध्योऽयं ततोऽधुना ।
व्रतं स्थविर-कल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम् ॥"

आ— 'दुर्धरो मूलमार्गोऽयं न धर्तुं शक्यते ततः ।"

अर्थात् इस समय जिनकल्प-मुनि का संयम धारण करना बड़ा कठिन है। यही समझ कर हम लोगों ने स्थविर-कल्प के व्रतों को धारण किया है। जिन-कल्प शब्द का अर्थ है—जिनेन्द्र के समान और स्थविर-कल्प का अर्थ है साधु के समान। जिनकल्प मूलमार्ग—अनादि कालीन मार्ग है, किन्तु दुर्धर है—इसलिए उसे हम धारण नहीं कर सकते। इस कथन से स्पष्ट है कि स्थविरकल्प की अपेक्षा जिनकल्प अधिक पवित्र और श्रेष्ठ है।

भगवान महावीर वस्त्र रहित थे यह बात श्वेताम्बर ग्रन्थों में निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि—

संवच्छरं साहियं मासं जं ण रिकासि वत्थगं भगवम् ।
अचेलए ततो चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे ॥ (अ० ६ उद्दे० १ सू० ४)

अर्थ—इन्द्र के द्वारा दिया गया देव दुष्कर नामा वस्त्र तेरह महीने तक भगवान के शरीर पर रहा। फिर उसे परित्याग कर वे वस्त्र रहित दिगम्बर हुए।

सिसिरं सि अद्ध पडिवन्ने ते वोसज्ज वत्थ मणगारे ।
पसारित्तु बाहू परक्कमे णो अवलंबिया ण कंधांसि ॥ (अ०६ उद्दे०१ सू० २२)

अर्थ—भगवान महावीर ने दूसरे वर्ष इन्द्र द्वारा प्रदत्त वस्त्र को त्याग दिया और वे दोनों भुजाओं को लटका कर विहार करने लगे। वे स्कंध के बल कभी नहीं बैठते थे।

"तदाणं समणे भगवं महावीरे संवं रसाहियं मासं चीवरधारी होत्था तेण परं अचेलरी पाणिपडिग्गहए ।" (कल्पसूत्र)

अर्थात् इसके बाद महावीर स्वामी तेरह महीने तक देव दूष्य वस्त्र को धारण करते रहे और फिर वस्त्र छोड़ कर दिगम्बर होगए।
आचारांग सूत्र में कहा है कि—

"अह पुण एवं जाणेज्जा, उवक्कन्ते खलु हेमन्ते, गिम्हे पडिवन्ने अहापरि जुन्नाइम् वत्थाइं परिट्ठ वेज्जा अदुआ सन्त रुतरे अदुआ ओम चेलए अदुआ एगसाडे अदुआ अचेले लाघवियं, आगम माणे तवे से अभिसममण्णागये भवति। जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वए सनोव्वए संमतये व अभिजाणिया ।"

• सं० प्र०

अर्थ—शीत काल के वीत जाने पर ग्रीष्म ऋतु के प्रारंभ में अपने दो वस्त्रों में से खराब वस्त्र को त्याग कर एक अच्छे वस्त्र को रख लेना या वस्त्र रहित होना साधु का लाघवधर्म है।

वह लाघव धर्म तप कहलाता है। अतएव भगवत वचन को जानकर वस्त्र रहित अवस्था तथा वस्त्र सहित अवस्था में समभाव रखना चाहिए।

इस तरह अनेक उदाहरणों से सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी दिगम्बरत्व आदर्श है।

इसी तरह वैदिक साहित्य में भी नग्नता (दिगम्बरता) को आदरणीय स्थान प्राप्त है। अवधूत—जो योगियों की सर्वोच्च अवस्था होती है—पूर्णता नग्न होते हैं। ऋषभदेव, जो जैनों के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं, वैदिक सम्प्रदाय में भी अवतार रूप में माने गये हैं। वे योगियों की सर्वोच्च अवधूतावस्था को प्राप्त थे। उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

श्री शुक उवाच—

"एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद् भगवानृषभो देव उपशमशीलानामुपरतकर्मणाम् महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणम् पारमहंसस्य धर्ममुपशिक्ष्यमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणीपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णककेश आत्मन्यारोपिताऽऽहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज"॥२९॥

(श्रीभागवत् स्कंध ५ अ० ५)

अर्थात्—श्री शुकदेव जी बोले कि—इस तरह महायशस्वी और सबके सुहृद् ऋषभ भगवान ने मनुष्यों को उपदेश देने के लिए प्रशान्त और कर्म-बन्धन से रहित महामुनियों को भक्तिज्ञान और वैराग्य के प्रदर्शक परमहंस के धर्म की शिक्षा देने के लिए अपने सौ पुत्रों में ज्येष्ठ परमभक्त पुत्र भरत का पृथ्वी का पालन करने के लिए राज्याभिषेक कर तत्काल ही संसार को छोड़ दिया और आत्मा में होमाग्नि का आरोप कर, केश खोल उन्मत्त की भाँति नग्न हो केवल शरीर को संग ले ब्रह्मावर्त से सन्यास धारण कर चल निकले।

इसी तरह परमहंस भी नग्न दिगम्बर होते हैं।

"यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रगृहनदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतवासमयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठोऽशुभकर्मनिर्मूलपरः सन्यासेन देहत्यागं करोति सः परमहंसो नामेति।"

(अथर्ववेद—जाबालोपनिषत् सूत्र ६)

अर्थ—जो नग्नरूप का धारक, निर्ग्रंथ, परिग्रहरहित, ब्रह्ममार्ग में उत्तमरीति से लगा हुआ, शुद्ध हृदय, भोजन के समय प्राण धारण करने के लिए उदर की पूर्ति के योग्य भिक्षा लेता है, लाभ और हानि में समानरूप से रहने वाला, शून्यघर, देव मंदिर, घास के ढेर, वल्मीक और वृक्ष के मूल आदि में रहने वाला, शुक्ल ध्यान में तत्पर, आत्मस्वरूप में लीन, अशुभ कर्म को नाश करने में उद्यत रहता हुआ, संन्यास पूर्वक मरण करता है—वह परमहंस है।

इसी तरह—"कथाकौपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधराः निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः। अर्थात् कंथा, लंगोटी, दुपट्टा आदि को त्याग कर नग्नरूप के धारक, निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित होते हैं।" इत्यादि—तैत्तरीयारण्यक के १०वें प्रपाठ के ६३वें अनुवाक्य में आगत वैराग्य प्रकरण में कहा गया है।

भगवद्‌गीता के १८वें अध्याय के १२वें श्लोक की टीका में तुरीयातीत संन्यासी का स्वरूप बताते हुए कहा है :—

"तुरीयातीतो गोमुखवृत्या फलाहारी अन्नाहारी चेद्‌ गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः।"

अर्थात्—सर्व प्रकार से त्यागी तीन ही घर में गोमुख वृत्ति से फल या अन्नाहार करने वाला एवं देहमात्र ही अवशिष्ट रह गई है जिसके तथा दिशाओं को ही अपना वस्त्र समझ कर नग्न रहने वाला मृतक के समान अपनी शरीर वृत्ति को रखने वाला तुरीयातीत संन्यासी कहा जाता है।

महर्षि वेदव्यास रचित श्रीमद्‌भागवत् के बारहवें स्कंध में लिखा है कि—एक बार राजा परीक्षित ने शृंगी ऋषि के गले में एक मरा सर्प डाल दिया। तब उनके शिष्य ने राजा को शाप दिया कि यही सर्प सातवें दिन प्रकट होकर तुम्हें डसेगा। यह सुन राजा को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने अट्ठासी हजार ऋषियों को बुलाकर उनसे प्रार्थना की कि मेरा उद्धार करो। ऋषि बोले—हम कुछ नहीं कर सकते। हम में सब से बड़े ऋषि शुकदेव जी हैं, वे ही सर्व भाँति निपुण व प्रवीण हैं और वे ही आपका उद्धार करने में समर्थ हो सकते हैं। तब राजा ने उनको बुलाया। दिगम्बर (नग्न) शुकदेव जी के आते ही सब ऋषि खड़े हो गये। राजा ने बड़े विनय से उनको सब से उच्च स्थान पर बैठाया। कहने का तात्पर्य यह है कि दिगम्बर मुद्रा ऐसी पूज्य है कि उन सब महर्षियों ने भी शुकदेव जी की दिगम्बरता का इतना आदर किया।

श्री भर्तृहरि जी कहते हैं—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शंभो! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥६९॥ (वैराग्यशतक)

संस्कृत टीका—एकाकी—संगरहितः, निस्पृहः—आशा रहितः, शान्तः—शमादि सम्पन्नः, पाणिः कर एव पात्रं भाजनं यस्य स एवं विधः, दिश एवाम्बरं वस्त्रं यस्य स एवंविधोऽहं, हे शंभो! कर्मणां निर्मूलने नाशनं तत्र क्षमः समर्थः एतादृशः कदा भविष्यामि?

भावार्थ—एकाकी, निस्पृह, शान्त, पाणि (हाथ) रूप पात्र में भोजन करने वाला, कर्मों के नाश करने में समर्थ, ऐसा दिगम्बर (नग्न) हे शंभो! मैं कब बनूंगा। और भी कहा है:—

पाणिपात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं ।
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ॥
येषां निःसंगतांगीकरणपरणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते ।
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥५१॥ (वैराग्यशतक)

अर्थ—जिन के हाथ ही पवित्र पात्र हैं, जो सदा भ्रमण (विहार) करते हैं और भिक्षा अन्न ही जिन के अक्षय अन्न हैं, दश दिशा रूपी जिनके लम्बे चौड़े वस्त्र हैं, सम्पूर्ण पृथिवी ही जिनकी विशाल निर्मल शय्या है, परिग्रह त्याग रूप जिनकी परणति है, अपने आत्मा में ही जिन्हें संतोष रहता है, दीनता के कारणों का जिन्होंने दूर ही से त्याग किया है, ऐसे महात्मा ही धन्य हैं। और भी कहा है—

महादेवो देवः सरिदपि च सैवामरसरिद् गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं, कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥

अर्थ—महादेव ही हमारा देव हो, जाह्नवी ही हमारी नदी हो, गुफा ही हमारा घर हो, दिशाएँ ही हमारे वस्त्र हों, समय ही हमारा मित्र हो, किसी के सामने दीन न होना ही हमारा व्रत हो, अधिक क्या कहें वट वृक्ष ही हमारी अर्धांगिनी हो। आगे और—

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरति वनिता संगमुदितः,
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥७७॥ (भर्तृहरि)

अर्थ—मुनि लोग राजा महाराजाओं की तरह सुख से जमीन को ही अपनी सुखदायिनी शय्या मान कर सोते हैं। उनकी भुजा ही उनका गुदगुदा तकिया है। आकाश ही उनकी चादर है। अनुकूल हवा ही उनका पंखा है। चन्द्रमा ही उनका दीपक है। विरक्ति ही उनकी स्त्री है। उपर्युक्त साधनों के साथ वे राजाओं की तरह सुख से आराम करते हैं।

दत्तात्रेय सहस्रनाम में लिखा है कि—दत्तात्रेय दिगम्बर (नग्न) थे। यथा—

दत्तात्रेयो महायोगी योगीश्चामरः प्रभुः ।
मुनिर्दिगम्बरो बालो मायामुक्तो दयापरः ॥ २ ॥

इसी तरह शुक्राचार्य और शिवजी भी नग्न दिगम्बर थे।

योगवाशिष्ठ में लिखा है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा विषयेषु न मे मनः ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

रामचन्द्र जी वशिष्ठजी से कहते हैं कि—अब मैं राम नहीं हूँ। मेरी इच्छायें भी नष्ट हो गई हैं, विषयों में भी मेरा मन नहीं है। मैं तो केवल जिन (जिनेन्द्र) की तरह अपनी ही आत्मा में शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ। यहाँ राम जिनेन्द्र की तरह आत्मनिष्ठ होना चाहते हैं। जिनेन्द्र तो पूर्ण नग्न थे, इसलिए राम भी अनुभव करते थे कि नग्न हुए बिना शान्ति नहीं मिल सकती। इससे नग्नता की आवश्यकता सिद्ध होती है।

"इदमन्तरं ज्ञात्वा सः परमहंस आकाशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न निन्दा न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेत् स भिक्षुः ।"

(परमहंसोपनिषद्)

अर्थात्—वह परमहंस इस प्रकार विवेकी होकर आकाशमात्र वस्त्र को धारण करता हुआ निन्दा और स्तुति में समभाव रखने वाला इच्छानुसार जगत् पर विचरण करता है। न इसे नमस्कार की जरूरत है और न स्वाहाकार की।

" अथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा स्वपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा····।"

(नारद-परिव्राजकोपनिषद् में तृतीयोपदेश)

अथवा विधि पूर्वक नग्नरूप को धारण करता हुआ अपने पुत्र, मित्र, स्त्री और माता पितादि बान्धवजनों एवं कौपीन, दण्ड और वस्त्र को भी छोड़ कर—इत्यादि।

"मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः । एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते । अप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य सर्वकर्मनिर्वर्तकोऽहमिति स्मृत्वा जातरूपधरो भूत्वा···।"

(नारद-परिव्राजकोपनिषद् में चतुर्थोपदेश)

कौपीनमात्र को धारण कर अथवा पूर्ण नग्न होकर, ध्यान और ज्ञान में तत्पर रहने वाला योगी ही पूर्ण ब्रह्मत्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वस्त्र और कटि सूत्र को भी जल में फेंक कर समस्त कार्यों से निवृत्त रहने वाला योगी यथाजातरूप (नग्नावस्था) को धारण कर अहं का स्मरण करता है।

" ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्य संन्यासी "
"आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा "

(नारद-परिव्राजकोपनिषद् में पञ्चमोपदेश)

इस तरह नारद पारिव्राजकोपनिषद् में स्थान २ पर जातरूप दिगम्बर या आशाम्बर या नग्न इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है—यह सब दिगम्बरता की पूज्यता के समर्थक प्रमाण हैं।

"देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोस्म्यहम्" (मैत्रेयोपनिषद् अ० ३ कारिका १६)

"दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुं ।
आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरं ॥" आदि (शाण्डिल्योपनिषद्)

अथ परमहंस नाम—"वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशाने वासिनो वासांवरा वा दिगम्बरा वा अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहा शुक्लध्यानपरायणाः" (भिक्षुकोपनिषद्)

" सर्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा " आदि (तुरियातीतोपनिषद्)

" संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी " (संन्यासोपनिषद्)

" यथाजातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः " तथा " तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणीश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतकप्रभृतयः " (याज्ञवल्क्योपनिषद्)

इन सब उपनिषदों में जगह २ दिगम्बर, निष्परिग्रह, जातरूपधर आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। दिगम्बरता को सुख का कारण बतलाया है। वृक्ष-मूल, शून्य-गृह और श्मसान में इनका निवास स्थान बतलाते हुए इनको शुक्ल ध्यान में तत्पर बतलाया है। परमहंसों में कुछ उत्कृष्ट योगियों के नाम भी गिनाये हैं; जिनमें संवर्तक, अरुणी, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव, हरीतक आदि मुख्य हैं।

नगर पुराण में कहा है—

दशभिर्भोजितैर्विप्रैः, यत्फलं जायते कृते ।
मुनेरर्हत्सु भक्तस्य, तत्फलं जायते कलौ ॥ १ ॥

अर्थ—सतयुग में दस ब्राह्मणों को भोजन कराने से जितना पुण्य फल होता है, उतना कलिकाल में एक अर्हद् भक्त दिगम्बर मुनि को दान देने से हो जाता है। इससे भी [illegible] धर्म की उत्कृष्टता ज्ञात होती है। क्योंकि अर्हद्-भक्त मुनि नग्न ही होता है।

इसी तरह मुसलमान एवं ईसाई धर्म में भी दिगम्बरता को उच्च माना गया है। इस सम्बन्ध में औरंगजेब बादशाह के समकालीन एक फकीर का हाल जरूर ही पढ़ने योग्य है। इस फकीर का नाम सरमस्त (सरमद) था। यह फकीर देहली की गलियों में मादरजात (दिगम्बर) होकर घूम रहा था। औरंगजेब ने उसे देखा। बादशाह ने समझा इसके पास कपड़े नहीं हैं इसलिए उसका तन ढकने के लिए कपड़े भेज दिये। वह कपड़ों को देख [illegible] मार कर हंसने लगा और उसने यह पद्य लिखकर बादशाह के पास भेजा—

आकँस कि सुरा कुलाह सुल्तानी दाद ।
मशुरा हम ओ अस्वाब परेशानी दाद ॥
पोशानीद लिबास हर किरा ऐबे दीद ।
बे ऐबे रा लिबास उर्यानी दाद ॥ १ ॥

भावार्थ—[illegible] परवरदिगार ने तुझको [illegible] शाही ताज दिया है, उसने हमको परेशानी का सामान दिया। जिस किसी में कोई ऐब पाया, उसको लिबास [illegible] और जिनमें ऐब नहीं पाया उनको नंगेपन का लिबास दिया। इससे नग्नता की महत्ता सिद्ध होती है।

पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने खुद फरमाया है कि मैं नये सिद्धान्तों का उपदेशक नहीं हूँ। संसार में प्रेम ही सारे (सम्पूर्ण) पापों की जड़ है। संसार, मुसलमान के लिये [illegible] है। उन्होंने जनता को त्याग और वैराग्य का आदर्श बता कर उपदेश दिया था और खुदने उस आदर्श को अपनाने का पूर्ण प्रयत्न किया था।

इस संदेश के अनुसार इस्लाम धर्म में त्याग और वैराग्य को विशेष स्थान मिला। उसमें ऐसे दरवेश (तपस्वी) हुए जो दिगम्बरत्व के अनुयायी थे।

तुर्कस्थान में अब्दुल नामक दरवेश मादरजात (नंगे) रह कर अपनी साधना में लीन रहते बताये गये हैं।

इस्लाम के महान सूफी (तत्त्ववेत्ता) और सुप्रसिद्ध मसनवी नामक ग्रन्थ के रचयिता जलालुद्दीन रूमी दिगम्बरत्व का खुला उपदेश निम्न प्रकार देते हैं:—

(१) "गुफ्त मस्त ऐ महतब बगुज़ार रव—
अज़ बिरहना के तवां बुरदन गरव"
(२) " जामा पोशां रा नज़र बरगाज़ रास्त—
जामे अरियां रा तजल्ली ज़ेवर अस्त"
(३) "याज़ अरियानान बयकसू बाज़ रव—
या चूं ईशां फारिग़ व बेजामा शव"
(४) "वर नमी तानी कि कुलं अरियां शवी—
जामा कम कुन ता रह औसत रवी"

उक्त पद्यों का उर्दू अनुवाद 'इल्हामें मन्जूम' नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया गया है:—

(१) मस्त बोला, महतव कर काम जा—
होगा क्या नंगे से तू अहदे वर आ !

(२) है नज़र धोबी पै जामैपोश की—
है तजल्ली ज़ेवर अरियां तनी ॥

(३) या विरहनों से हो यकसू वाक़ई—
या हो उनकी तरह वेजामै अस्वी ।

(४) मुतलक़न अरियां जो हो सकता नहीं—
कपडे कम यह है, कि औसत के क़रीं ॥ (

कोई तार्किक मस्त नङ्गे दरवेश से आ उलझा। उसने साधारणतः कह दिया, कि जा अपना काम कर, तू नङ्गे के सामने टिक नहीं सकता। वस्त्रधारी को हमेशा धोबी की फिकर लगी रहती है, किन्तु नंगे तन की शोभा दैवी प्रकाश है।

बस या तो तू नंगे दरवेशों से कोई सरोकार न रख, अथवा उन की तरह आजाद और नङ्गा हो जा। अगर तू एक दम सारे कपड़े नहीं उतार सकता, तो कम से कम कपड़े पहन, और मध्य मार्ग को ग्रहण कर। दिगम्बर जैन साधु भी तो यही कहते हैं कि मुनि वनो। अगर नहीं वन सकते तो उत्तम श्रावक वनो। दिगम्बरत्व को इस्लाम मजहव मे कितना उच्च स्थान प्राप्त है यह उक्त उद्धृण से स्पष्ट है।

इस्लाम के इस उपदेश के अनुकूल सैकड़ों मुसलमान फकीरों ने दिगम्बर वेष को प्राचीन काल में धारण किया था।

सारांशतः इस्लाम मजहब में, दिगम्बरत्व साधु पद का चिह्न रहा है और उसको अमली शक्ल भी हजारों मुसलमानों ने दी है।

ईसाई धर्म में भी दिगम्बरत्व का समर्थन है। क्रिश्चियन साहित्य में इसके अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

ईसाई मत के अनुसार सर्व प्रथम पुरुष आदम नंगा रहता था और भी अनेक साधु नंगे रहे हैं। यहूदियों की प्रसिद्ध पुस्तक (The Ascension of India) के पृष्ठ ३२ में लिखा है कि "वह जो मुक्ति की प्राप्ति में श्रद्धा रखते थे एकान्त में पर्वत पर जा जमे··। वे सब सन्त थे और उनके पास कुछ नहीं था और वे नंगे थे।" अपॉसल पीटर ने दिगम्बरत्व की आवश्यकता को (Clementine Homilies में) इन शब्दों में वताया है—

हम जिन्होंने भविष्य की चीजों को चुन लिया है, यहाँ तक कि हम उनसे ज्यादा सामान रखते हैं। चाहे वे फिर कपड़े-लत्ते हों या दूसरी कोई चीज (वस्तु), पाप को रखे हुए हैं। क्योंकि हमें कुछ भी अपने पास नहीं रखना चाहिये। हम सबके लिए परिग्रह पाप है, जैसे भी हो वैसे इसका त्याग करना पापों को हटाना है।

इससे स्पष्ट है कि ईसाई मत मे भी नग्नता को उच्च स्थान दिया गया है।

संन्यस्त जीवन के लिए नग्नता सचमुच ही आभूषण है। इससे मुनि अनायास ही बहुत सी झंझटों से बच जाता है। वस्त्र के साथ बहुत सी बुराइयाँ संन्यास जीवन में आ सकती हैं। वस्त्र माँगना, उसकी रक्षा करना, मैला हो जावे तो धोना, फट जावे तो सीना या सिलाना खो जाने तो उसकी तलाश करना आदि अनेक आपदाओं से छुटकारा पाने के लिए यही सर्वोत्तम मार्ग है कि संन्यस्त जीवन व्यतीत करने वाला किसी भी प्रकार के वस्त्र का पूर्णतः त्याग कर दे, ताकि उक्त झंझटों से बचे हुए समय को अपनी आत्म-चिन्तना में लगा सके। यदि मुनि ने अन्यान्य सब परिग्रह को छोड़ दिया है तो फिर वस्त्र को भी क्यों न छोड़े? क्योंकि यह भी तो एक परिग्रह है। अन्यान्य परिग्रह से जो बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, वे वस्त्र से भी उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती हैं।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तब तो मुनि को पिन्छी, कमण्डलु और पुस्तकें भी नहीं रखना चाहिए। और यह भी, क्यों नहीं कहना चाहिए कि यह शरीर को भी क्यों रख रहा है? उसका भी परित्याग क्यों नहीं कर देता?

उत्तर—मुनि पिन्छिका अपने मुनित्व की रक्षा के लिए रखता है। इसलिए वस्त्र के साथ इसकी समानता का समर्थन करना किसी भी तरह उचित नहीं है। पूर्ण रूप से दया का पालन करने के लिए पिन्छिका की नितान्त आवश्यकता है। इसीलिए जैन शास्त्रों में उसे दया का उपकरण कहा है। अशोभावेन अपने जीवन में दया का उतारना ही मुनित्व की रक्षा है। यदि मुनि का कोई आचरण दया के प्रतिकूल हो तो उससे उसका मुनित्व ही नष्ट हो जाता है। मुनि भी इतर मनुष्यों की तरह उठते-बैठते और सोते हैं, अपने कमण्डलु और पुस्तकें आदि को उठाते-धरते हैं। पिन्छिका से यत्नाचार पूर्वक अच्छी तरह भूमि आदि को देख-शोधकर यदि मुनि उठे-बैठे और शयनादि करे, तो जीवों की दया पल सकती है। यही कारण है कि मयूर पंख जैसी सुकोमल वस्तु से पिन्छिका बनाने का विधान है। इसके द्वारा झाड़ने-बुहारने से किसी भी जीव को कोई बाधा नहीं पहुँचती।

कमण्डलु तो शौच का उपकरण है। उसका रखना तो पिन्छिका से भी अधिक अनिवार्य है। इसके समर्थन के लिए किसी भी तरह की दलील देना अनावश्यक है।

पुस्तकें ज्ञान का उपकरण है। मुनि इनको अपने साथ २ नहीं लिये फिरता। पर जहाँ वह ठहरे वहाँ इनका उपयोग कर सकता है। और इनको अपने पास रख भी सकता है। अपने ज्ञानार्जन के लिए इनका उपयोग करना मुनि के लिए अनिवार्य है। पुस्तक-निर्माण के लिए मुनि दवात, कलम, स्याही, कागज आदि चीजों को भी अपने पास रख सकता है। पर वह इनमें से किसी वस्तु को अपने साथ नहीं रख सकता।

शरीर को छोड़ना तो बिलकुल अशक्य है। वह तो छोड़ा नहीं जा सकता, किन्तु स्वयं छूटता है। उसका छोड़ना तो मुनि के लिए इतना ही है कि वह उससे मोह न रखे। मुनि तो उससे ही क्या पिन्छी, कमण्डलु, पुस्तक आदि किसी भी चीज से मोह नहीं रखता।

इस तरह उक्त प्रकरण से अच्छी तरह जाना जा सकता है कि नग्नता कितने महत्व की चीज है।

सं० प्र०

स्नान त्याग मूलगुण ।

स्नान त्याग २४वाँ मूलगुण है। जैन-मुनि जल आदि किसी भी वस्तु से स्नान नहीं कर सकता। उबटन, जल-सिंचन, चन्दनादि लेपन, शरीर को रगड़ना, मैल छुड़ाना इत्यादि सभी कार्यों का उसके परित्याग होना चाहिए। स्नान में आरंभ जनित पाप तो होता ही है, इसके अतिरिक्त स्नान से शरीर में राग एवं ममत्व भी उत्पन्न होता है। स्नान शरीर के शृंगार का कारण है। इससे शरीर निखर जाता है और अवश्य ही कुछ आकर्षकता आ जाती है। यह आकर्षकता उनके लिए भी अच्छी नहीं है जो धर्मश्रवण आदि के लिए मुनियों के सपर्क में आते हैं। इसलिए ऐसी वस्तु को जो स्व-पर कल्याण में बाधक है, मुनि क्यों अपनावे ?

मुनि की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होनी चाहिए। उसको ऐसे सभी निमित्तों से बचना चाहिए जो शरीर में राग या ममत्व-भाव उत्पन्न करने वाले हों। स्नान भी जब ऐसा ही है तो उसका त्याग भी मुनि के लिए आवश्यक है। स्नान-त्याग की उपयोगिता के विषय में मूलाचार में लिखा है—

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्त जल्लमल्ल सेद सव्वंगं ।
अण्हाणं घोरगुणं संजम दुग पालयं मुणिणो ॥३१॥ (मूला० मूल०)

स्नान-त्याग से सारा शरीर पसीना आदि मलों से भर जाता है। जिससे शरीर की मोहकता नष्ट हो जाती है और दोनों प्रकार के संयम पल जाते हैं। अतः यह स्नान-त्याग अतीव गुण-परिपूर्ण है।

स्नान-त्याग से शरीर को मैला देखकर यह भावना भी पैदा होती है कि यह पौद्गलिक शरीर नश्वर है, मलों से भरा है, इससे राग करना ठीक नहीं। इस तरह शरीर के प्रति विरागता उत्पन्न होने से इन्द्रिय संयम पलता है और स्नान में होने वाले आरभ के बचाव होने के कारण प्राणि-संयम भी पलता है।

प्रश्न—स्वास्थ्य विषयक ग्रन्थों में तो स्नान को स्वास्थ्य का कारण माना है। मुनि स्नान न करेंगे तो स्वास्थ्य ठीक कैसे रहेगा ? पसीने आदि मैल से जब रोम-कूप आवृत्त हो जावेंगे तब उन्हें प्राणप्रद वायु नहीं मिलेगी और उन्हें जरूर हानि पहुँचेगी।

उत्तर—पहले कहा जा चुका है कि मुनि की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होनी चाहिए, शारीरिक स्वास्थ्य की उसे अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी वह जान-बूझ कर इसे नष्ट नहीं कर सकता। इसलिए यदि स्नान स्वास्थ्य का कारण है तो वह मुनि को अवश्य अपनाना चाहिए। अतः एक दृष्टि से आपका प्रश्न ठीक है। पर सर्वांश मे बात ऐसी नहीं है। जो आकृतिक जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें पशु-पक्षियों की तरह स्नान की कभी आवश्यकता नही होती। जिस मनुष्य ने अपना आहार-विहार अप्राकृतिक बना रखा है, स्नान की आवश्यकता केवल उसे ही है। मुनि तो इतना प्राकृतिक होकर रहता है कि उसका अस्नान-व्रत कभी उसके स्वास्थ्य को बाधा नहीं पहुँचाता। उसका आहार, विहार, सोना, उठना आदि सभी

क्रियाएँ नियमबद्ध होती हैं। इसलिए उनके धातु, उपधातु आदि सभी प्राकृतिक अवस्था में रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्राणायाम, ध्यान आदि भी उनकी कुछ ऐसी क्रियाएँ ऐसी हैं, जिससे उसके शरीर के सभी प्रकार के मैल यथावसर अपने आप छूटते रहते हैं। और इस प्रकार बाह्य मल ही नहीं, अन्तरङ्ग मल के भी अपने आप छूटते रहने से केवल शृंगार के अन्यतम साधन स्नान की उसके लिए कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

प्रश्न—यदि मुनि स्नान नहीं करेगा तो फिर वह पवित्र कैसे माना जावेगा ? क्योंकि लोक-व्यवहार में शारीरिक स्नान के बिना पवित्रता नहीं मानी जाती।

उत्तर—लोक व्यवहार में जल से पवित्र मानने की बात सार्वभौमिक नहीं है। घर में रहने वाले गाय, भैंस आदि को हम भी बिना स्नान कराये ही पवित्र मान लेते हैं। वास्तव में शारीरिक पवित्रता का विचार स्नान से नहीं, शरीर की स्वस्थता से होना चाहिए। आध्यात्मिक दृष्टि से तो सन्तोष (लोभ का अभाव) और इन्द्रिय विजय ही वास्तविक पवित्रता के कारण हैं। इसीलिए इन्द्रिय और प्राणि संयम के पालक महर्षि स्नान-त्याग नाम के मूलगुण का पालन करते हैं।

प्रश्न—स्नान किये बिना, मुनि शौचादि की अशुद्धता पूर्वक गृहस्थ के चौके में कैसे जा सकता है ?

उत्तर—मुनि शौचादि की अपवित्रता दूर करने के लिए काठ के कमण्डलु में प्रासुक जल रखते हैं। उस जल से ठीक ठीक सर्व प्रकार की योग्य शुद्धि वे कर लेते हैं। यदि अस्पृश्यों से उनका स्पर्श हो जावे तो कमण्डलु में से शिर के ऊपर दंड की तरह जल-धारा डाल लेते हैं और इसके प्रायश्चित्त स्वरूप नौ बार णमोकार मंत्र जप लेते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह रूप अशुचि (पाप) उनके होते ही नहीं। इसके अतिरिक्त वे सूक्ष्म से सूक्ष्म सावद्य कार्य की शुद्धि के लिए प्रायश्चित लेते रहते हैं और इस प्रकार व्रत और महामन्त्र रूप स्नान से मुनि सर्वदा पवित्र रहते हैं, तब उनमें शुद्धि या पवित्रता की न्यूनता कैसी ? जिससे वे गृहस्थी के चौके में न जा सकें।

अतिथि के स्नान-त्याग गुण की प्रशंसा अन्य ग्रन्थों में भी की गई है। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है:—

स्नानोपभोगरहिता, पूजालंकारवर्जिता ।

वही अतिथि या साधु गुणवान् है जो स्नान, उपभोग, पूजा, भूषण आदि से रहित है और मधु, मांस, मद्य का जिसके त्याग है।

इस प्रकार मुनि के लिए स्नान त्याग की उपयोगिता का वर्णन किया गया। (गृहस्थ अपनी क्रियाओं में स्नान का उपयोग अपने पद और अपनी आवश्यकता के अनुसार करता है।)

भूमिशयन मूलगुण

भूमि-शयन २५वाँ मूलगुण है। मुनि मनुष्य-जीवन की दुर्लभता को जानता है, अतः उसे सोने में समय नहीं बिताना चाहिए। पर यह उसके हाथ की बात नहीं। अन्यान्य प्राणियों की तरह सोना (नींद लेना) तो उसके लिए भी अनिवार्य ही है। वह निद्रा-विजयी बने, यह भी सर्वांश में नहीं हो सकता। उसके निद्रा-विजयी होने का तो इतना ही अर्थ हो सकता है कि वह अनावश्यक नींद न ले। आवश्यक नींद का उपभोग करने के लिए तो वह भी मजबूर ही है।

मुनि-जीवन के सर्वस्व ध्यान में बाधक होते हुए भी निद्रा जब बहुत जरूरी है तो फिर उसका ढंग ऐसा होना चाहिए कि वह जीवन में प्रमाद को न आने दे। उससे सुख का अनुभव होकर जीवन आराम पसन्द न बने। यही भूमि-शयन की उपयोगिता है और इसीलिए उसे भी एक मुख्य गुण माना गया है। यदि गृहस्थों की तरह मुनि भी शयन के लिए सुविधाओं का उपयोग करने लगे तो उसमें बहुत सी बुराइयाँ पैदा हो सकती हैं। जिस साधना के लिए मुनि बना जाता है उसे अच्छी तरह पा लेने के लिए शरीर को साधे बिना काम नहीं चल सकता।

भूमि-शयन मूलगुण का वर्णन करते हुए श्री वट्टकेर स्वामी ने लिखा है :—

फासुयभूमि-पएसे अप्पम संथारिदम्हि पच्छण्णे।
दण्डं धणुव्वसेज्जं खिदि सयणं एय पासेण ॥३२॥ (मूला० मूल०)

प्रासुक (जीव-जन्तु-रहित) भूमि, शिला, काष्ठ, फलक (पट्टा) तृण वगैरह पर मुनि शयन करे। वह सोने का आसन न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो। वहाँ पर स्त्री, पुरुष, नपुसक तथा पशु आदि का भी विशेष गमनागमन न हो, एकान्त स्थान हो। संस्तर को मुनि स्वय अपने हाथ से करे। उस पर औंधा या सीधा शयन न करे, किन्तु एक पसवाड़े से दंड समान व धनुप समान शयन करे। प्रमाद से गहरी नींद न लेवे और रात्रि के प्रथम व अन्त के पहर में न सोवे। वार बार शरीर को न पलटे। क्योंकि ऐसा करने से जीवों को वाधा होना संभव है। यदि शरीर को पलटने की आवश्यकता ही हो तो पहले संस्तर प्रदेश एवं शरीर का पिच्छी से शोधन करले। सांथरा लंबा-चौड़ा, कोमल, या गृहस्थों सरीखा अधिक घासवाला न हो। क्योंकि इससे चारित्र की विराधना होती है। शरीर मे प्रमाद व सुखियापन आ जाता है, जिससे परिषह सहने की दृढ़ता नहीं रहती। इसलिए सयमी का सांथरा इतना ही होना चाहिए कि वह निद्रा-विजयी बना रहे और कभी योग ठीक न मिले तो भी उसके आर्त-रौद्र परिणाम न होने पावें।

भूमिशयन और अल्प-संस्तर की अन्यमतावलम्बियों ने भी प्रशंसा की है।

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं।
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ॥ (भर्तृहरि)

जो भिक्षा-वृत्ति से भोजन ग्रहण करता है और वह भी नीरस, केवल एक बार, पृथ्वी पर ही जो सोता है और केवल अपना शरीर ही जिसका कुटुम्ब है, वह संयमी धन्य है।

अतः भूमिशयन और अल्प संस्तर ही संयमी के लिए आवश्यक एवं शोभा की चीज है।

अदन्त-धावन मूलगुण

अदन्त-धावन मुनि का २६वाँ मूलगुण है। स्नान की तरह दन्त-धावन भी शृङ्गार का साधन माना जाता है। चमकीले और सुन्दर दाँत दूसरों को आकृष्ट करने का कारण बन जाते हैं। यह बात तो ठीक है कि मुनि आकर्षक हो, पर उसकी आकर्षकता आध्यात्मिक होनी चाहिए, शारीरिक नहीं। बहुत सुन्दर और चमकीले दाँत मनुष्य के चेहरे को खिला देते हैं—इसका ध्यान यदि मुनि को भी होने लगे तो वह शरीर के दूसरे हिस्सों को भी दाँतों की तरह सुन्दर रखने की चेष्टा कर सकता है और यह उसके लिए ठीक नहीं है। मुनि का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे उसकी वीतरागता का परिचय मिले। यदि मुनि भी श्रावकों की तरह मुखशुद्धि एवं दाँतों को उजला करने लगे, तो इससे उसका शरीर के प्रति अनुराग प्रकट होगा। उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी (आत्मा की ओर) न मालूम होकर वहिर्मुखी (शरीर की ओर) मालूम होगी। इस दूषण को हटाने के लिये उसके लिए यही उपयोगी है कि वह भोजन के समय दाँतों को अच्छी तरह धोले, जिससे उनमें अन्न का कोई भाग लगा न रहे और उसके कारण जीवों की उत्पत्ति एवं विनाश होने से हिंसा न हो। किन्तु इसके लिये अँगुली आदि के उपयोग करने की आवश्यकता नहीं। सर्वज्ञदेव की आज्ञा के पालन के लिए यही जरूरी है। इस मूलगुण के वर्णन में मूलाचार में लिखा है:—

अंगुलि-णहावलेहणिकलीहिं पासाण-छल्लियादीहिं।

दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदन्तमणं ॥३३॥

अंगुली, नख, दतौन, सींक, पत्थर, पेड़ की छाल (वक्कल, छोड़ा) टीकरी का टुकड़ा (खर्पर खण्ड), तन्दुलवर्तिका आदि से जो संयम की रक्षा के लिए दन्तमल का शोधन नहीं किया जाता उसे अदन्तमन (अदन्तधावन) व्रत कहते हैं।

इससे सिद्ध है कि दन्तमल शोधन के लिए मुनि को अपनी अंगुली आदि का भी उपयोग नहीं करना चाहिए। तब मंजन, राख आदि से दाँतों को साफ करना तो स्वतः निषिद्ध है। मुख्य बात यह है कि गृहस्थों की तरह दन्त-धावन से इन्द्रिय संयम की रक्षा नहीं हो सकती। क्योंकि दाँतों की मलीनता से घृणा न हो तब तक मुनि उनकी मलीनता दूर करने के लिए प्रयत्न नहीं कर सकता और यदि ऐसा होने लगता है तो उसके इन्द्रिय-विजय में कमी भी अवश्य ही प्रतीत होती है। इसलिए अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाले मुनि के लिए अदन्त-धावन स्वाभाविक-सी बात है, कृत्रिम या दिखावटी चीज नहीं। इसीलिए उसके मुख-शुद्धि में भी कमी नहीं समझनी चाहिए। क्योंकि वास्तविक दृष्टि से तो मुख सदैव अशुद्ध ही रहता है। धोने पर भी उसमें

शुद्धता नहीं आती। वह तो हमेशा कफ, थूक आदि का धाम बना ही रहता है। इसलिए व्यर्थ ही मुख-शुद्धि [illegible] पर इन्द्रिय-विजयी संयमी क्यों सच्मूर्छन आदि जीवों के घात का भागी बने। ग्लानि के लिहाज से कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि [illegible] मुनि ग्लानि के वशीभूत नहीं होता, उस पर सर्वथा विजयी होता है। वास्तविक बात तो यह है कि दतौन आदि से मुख-शुद्धि नहीं होती, इन बाह्य साधनों [illegible] जो शुद्धि होती है, वह तो व्यावहारिक शुद्धि है। मुख की सच्ची शुद्धि तो सत्य भाषण से है। सो प्राण जाने पर भी मुनि असत्य-भाषण न करे।

स्वास्थ्य की दृष्टि से मुख शुद्धि करने, दाँतों को साफ रखने आदि की उपयोगिता बताई जाती है, पर उस दृष्टि से भी संयमी के लिए गृहस्थों की तरह दन्त-धावन की आवश्यकता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि यह उपदेश तो उनके लिए है—जिनके स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण दाँत आदि पर मैल जमा हुआ करता है। मुनि के लिए यह यों जरूरी नहीं है कि पेट (आमाशय) की खराबी के बिना दाँतों में कोई गड़बड़ी नहीं हो सकती। मुनि अपने विशिष्ट कार्यक्रम से स्वास्थ्य को इतना ठीक रखता है कि उसके ऐसी कोई गड़बड़ी नहीं होती।

स्थिति भोजन मूलगुण

स्थिति भोजन २७वाँ मूलगुण है। बैठकर भोजन करने में कुछ अधिक खा लिया जाता है। आराम के साथ बैठे हुए आदमी को खड़े आदमी की अपेक्षा देर में भान होता है कि उसने ज्यादा खा लिया। अतः मुनि के लिए खड़े रह कर खाने का विधान उचित है। क्योंकि बैठे आदमी की अपेक्षा खड़ा आदमी कम ही खायगा। एक बात यह भी है कि बैठा हुआ आदमी खाते-खाते जल्दी नहीं थकता। पर खड़े हुए को थकते देर नहीं लगती।

अल्प-भोजन करना ही इस मूलगुण का उद्देश्य मालूम होता है। इससे यह बात भी प्रमाणित होती है कि मुनि तब तक ही आहार के लिए गमन करे जब तक कि उसमें खड़े रहने की सामर्थ्य हो। इस विषय में मूलाचार में लिखा है—

> अंजलिपुडेण ठिचा कुड्डाइ-विवज्जणेण समपायं।
> पडिसुद्धे भूमितिये असणं ठिदिभोयणं णाम ॥३४॥

भीत, थंभे आदि का सहारा लिये बिना, एक पैर से दूसरे पैर को चार अंगुल दूर रख के, तीनों भूमियों की शुद्धि होने पर अपने हाथों की अंजुली रूप पात्र में आहार ग्रहण करना स्थिति भोजन कहलाता है।

विशेष—जहाँ पात्र खड़ा रहे, जहाँ भोजन देने वाला खड़ा हो और जिस स्थान पर उच्छिष्ट गिरता हो, उन तीनों भूमियों को पिच्छी से अच्छी तरह साफ करना चाहिए, जिससे कि वह स्थान जीव-बाधा रहित हो जाय।

भोजन के पहले हाथ धोना चाहिए। फिर सिद्ध-भक्ति करनी चाहिए और तदनन्तर अंजुली लगा कर भोजन करना चाहिए।

एक भक्त मूलगुण

एक भक्त मुनियों का [illegible]वाँ मूलगुण है। एक दिन रात में दो भोजन-वेला (समय) मानी गई हैं। उनमें एक भोजन के समय में आहार ग्रहण करना एक भक्त मूलगुण कहलाता है। आहार ग्रहण के लिए कौनसा और कितना समय शास्त्र-विहित है इसके लिए मूलाचार का उल्लेख देखिए।

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥६५॥

सूर्योदय और सूर्यास्त के कालों में तीन घड़ी छोड़ कर बीच के समय में (सूर्योदय के तीन घड़ी पश्चात् से सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पहले तक के समय में) एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त काल में एक बार आहार ग्रहण करना एक भक्त है। आहार ग्रहण के लिए एक मुहूर्त काल उत्कृष्ट, दो मुहूर्त काल मध्यम एवं तीन मुहूर्त काल जघन्य काल समझना चाहिए।

शङ्का—एक भक्त और एक स्थान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—तीन मुहूर्त में पाद विक्षेप किये बिना (पैर हिलाये-डुलाये बिना) भोजन ले लेना एक स्थान कहलाता है और कारण विशेष से जिसमें पाद विक्षेप किया जाता है वह एक भक्त कहा जाता है। यही इनमें अन्तर है। एक स्थान तो उत्तरगुण है और एक भक्त मूलगुण।

यहाँ तक श्री आचार्य सूर्यसागर जी महाराज विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध की
प्रथम किरण समाप्त हुई।